बालकृष्ण भट्ट

और

आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरंभ

(एम० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध-निर्देशक
प्रो० मैनेजर पांडेय

शोध-छात्र
अभिषेक रौशन

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-10067

2002

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Centre of Indian languages

Date : 22 July 2002

DECLARATION

I declare, that the material in this Dissertation entitled "**BALKRISHNA BHATT AUR ADHUNIK HINDI ALOCHNA KA ARAMBH**" submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other University / Institution.

अभिषेक रौशन
ABHISHEK RAUSHAN
(Name of the Scholar)

(PROF. MANAGER PANDEY)
SUPERVISOR
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University,
New Delhi-110067

(PROF. MANAGER PANDEY)
CHAIRPERSON
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University,
New Delhi-110067

GRAM : JAYENU TEL.: (91-001) 6107676, 6167557TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

दादी

और

मम्मी-पापा के लिए

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय

आलोचना का अर्थ और हिन्दी आलोचना का आरंभ 1-32

1. आरंभिक हिन्दी आलोचना की भूमिका
2. आलोचना का अर्थ
3. आलोचकों के बाड़े में बालकृष्ण भट्ट
4. बालकृष्ण भट्ट : आलोचना के आरंभकर्त्ता

दूसरा अध्याय

भारतेन्दुयुगीन आलोचना और बालकृष्ण भट्ट 33-80

1. सैद्धांतिक आलोचना

(क) साहित्य

(ख) नाटक

(ग) कविता

2. व्यावहारिक आलोचना

3. भाषा सम्बन्धी आलोचना

(क) गद्य का निर्माण

(ख) हिन्दी-उर्दू की एकता-अनेकता

(ग) खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा

तीसरा अध्याय 81-120

बालकृष्ण भट्ट की आलोचना का स्वरूप

1. सैद्धांतिक आलोचना

(क) साहित्य

(ख) कविता

(ग) नाटक

(घ) उपन्यास

2. व्यावहारिक आलोचना

3. भाषा सम्बन्धी आलोचना

(क) गद्य का निर्माण

(ख) हिन्दी-उर्दू की एकता-अनेकता

(ग) खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा

4. जातीय भाषा और जातीयता के गुण

चौथा अध्याय 121-156

बालकृष्ण भट्ट और परवर्ती हिन्दी आलोचना

उपसंहार 157-158

ग्रन्थानुक्रमणिका 159-171

परिशिष्ट 'क' : आधार ग्रन्थ

परिशिष्ट 'ख' : स्रोत एवं संदर्भ ग्रंथ

परिशिष्ट 'ग' : पत्रिकाएँ

आत्मकथन

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी आलोचना के आरंभकर्ता हैं। उनके आलोचना-कर्म पर निगाह डालने पर आश्चर्य और सुख दोनों होता है। उन्होंने साहित्य से जुड़े हुए अनेक मुद्दों पर बड़ी प्रखरता से विचार किया है। बालकृष्ण भट्ट की चिंतन की व्यापकता और आलोचनात्मक विवेक की प्रखरता ने मुझे उनके आलोचना-कर्म पर काम करने को आकृष्ट किया।

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी आलोचना को मजबूत आधार प्रदान करने वाले आलोचक हैं, पर हिन्दी आलोचना में उन्हें वह स्थान प्राप्त नहीं हो सका है जिसके वे अधिकारी हैं। वे हिन्दी आलोचना के आरंभ का नायक ही नहीं है, बल्कि आलोचना के लिए वातावरण और परंपरा का निर्माण करने वाले हैं, पर उनके आलोचना-कर्मको 'दबा' दिया गया है। साहित्य को दरबार और शास्त्रीयता के घेरे में निकालकर उसको मनुष्य और समाज की ओर मोड़ने की दृष्टि देने वाले बालकृष्ण भट्ट पर हिन्दी आलोचना में बहुत कम विचार किया गया है।

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी आलोचना के प्रथम सशक्त आलोचक हैं, इस बात पर विचार करने के लिए जरूरी था कि पहले आलोचना के अर्थ के बारे में एक धारणा रखी जाए। मैंने अपने शोध-प्रबंध के प्रथम अध्याय में अलोचना के अर्थ को आधुनिक अर्थ में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है, साथ में इस बात का ख्याल रखा है कि इस व्याख्या में भारतेन्दुयुग की रंगत भी कायम रहे। इसी अध्याय में मैंने हिन्दी आलोचना के आरंभ के बारे में विभिन्न आलोचकों के विचारों की छानबीन करने की कोशिश की है साथ में इस धारणा को पुष्ट करने का प्रयास किया है कि बालकृष्ण भट्ट ही हिन्दी आलोचना के आरंभकर्ता हैं।

बालकृष्ण भट्ट का आलोचना-कर्म भारतेन्दुयुगीन अन्य आलोचकों के बरक्स कहाँ ठहरता है, इसका विवेचन मैंने दूसरे अध्याय में किया है। भारतेन्दुयुग के प्रमुख आलोचक प्रेमघन, भारतेन्दु और प्रताप नारायण मिश्र के आलोचना-कर्म की छानबीन भी इस अध्याय का हिस्सा है। साथ में उन कई अनाम लेखकों के चिंतन पर विचार किया गया है,जिन्होंने भारतेन्दुगीन आलोचना को खाद-पानी प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस शोध-प्रबंध का तीसरा अध्याय इसका केन्द्रीय अध्याय है। इस अध्याय में बालकृष्ण भट्ट की आलोचना के स्वरूप की व्याख्यायित करने का प्रयाय किया गया है। बालकृष्ण भट्ट ने आलोचना में सिद्धांत और व्यवहार दोनों स्तरों पर महत्वपूर्ण काम किया है, इनके हेतु क्या हैं, इस दृष्टि से उनकी आलोचना

पर विचार किया गया है।

चौथे अध्याय में बालकृष्ण भट्ट के आलोचना-कर्म को परवर्ती हिन्दी आलोचना के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। उनके चिंतन के आधार बिन्दुओं को परवर्ती हिन्दी आलोचना ने किस रूप में विस्तार किया है, इस अध्याय के विवेचन में इस दृष्टि की प्रमुखता है।

अंत में उपसंहार के रूप में इस शोध प्रबंध के निचोड़ लाने की कोशिश की गई है।

बालकृष्ण भट्ट पर काम करने के क्रम में सबसे बड़ी समस्या विषय से संबंधित सामग्री की कमी है। बालकृष्ण भट्ट की रचनाओं का ग्रंथावली प्रकाशित नहीं हुआ है और 'हिन्दी प्रदीप' की प्रतियाँ भी बदहाल हालत में हैं। मैंने 'हिन्दी-प्रदीप' की फाइलों को भारतीभवन पुस्तकालय, इलाहाबाद में देखा एवं इसके माइक्रोफिल्म को नेहरू म्यूजियम एंड लाइब्रेरी, त्रिमूर्ति भवन, नई दिल्ली में देखा।

मनुष्य अकेला कुछ नहीं करता, उसकी जिन्दगी कई लोगों के सहयोग और सम्बल से आगे बढ़ती है। इस शोध प्रबंध के पूरा करने के क्रम में कई लोगों के आत्मीय सहयोग प्राप्त हुए, उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा कर्त्तव्य और धर्म है।

इस क्रम में मैं डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। मुझे इलाहाबाद में उनसे आत्मीय सहयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने बालकृष्ण भट्ट के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण एवं खोजी जानकारी देकर मेरे काम को आसान बनाया।

मैंने रमेश कुमार के शोध-प्रबंध 'आरंभिक हिन्दी आलोचना में विवादों का योगदान' का अपने शोध-प्रबंध में उपयोग किया है, मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

अपने अध्यापकों में मैं डॉ० वीरभारत तलवार, डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे ज्ञान का विस्तार किया। डॉ० ओमप्रकाश सिंह का सान्निध्य मुझे अपने काम को आगे बढ़ाने में साहस प्रदान किया।

डॉ० देवेन्द्र कुमार चौबे से मैं समय-समय पर अपने शोध के बारे में विचार-विमर्श किया। मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अपने शोध निर्देशक प्रो० मैनेजर पांडेय के बारे में लिखने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है। उन्हीं की 'बलिहारी' से यह शोध प्रबंध पूरा हो सका है। इस शोध में जितनी अच्छाइयां हैं, सब उन्हीं की हैं और कमियाँ मेरी।

प्रिय अनुज मिन्टू , बहन गुड्डी के प्यार और सम्मान ने मेरे भीतर कुछ अच्छा करने का जज़्बा पैदा किया। इन दोनों ने घर से सम्बन्धित मेरे दायित्वों को अपने जिम्मे लेकर मुझे अपने काम के प्रति ईमानदार

रहने की प्रेरणा दी। अनुज बिट्टू का सान्निध्य मेरे भीतर अपने काम के प्रति अदम्य साहस और उत्साह का संचार किया। इसने मुझे जीवन-संघर्षों से लड़ना सिखाया। मेरे अनुजों ने मेरी जिन्दगी में 'बड़ों' की भूमिका निभायी है।

मैं कमलेश वर्मा और सुचिता वर्मा का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे हिन्दी पढ़ना सिखाया।

भाई पंकज कुमार झा विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं। इस शोध-प्रबंध को मुकाम पर पहुँचाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है।

राजीव रंजन सिन्हा, अरविन्द अवस्थी, अमरेन्द्र त्रिपाठी, आनंद पांडेय और नवनीत ने भाषा सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने में सहायता पहुँचाई। मैं इनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

विभु भाई और विपिनदा के सहयोग अविस्मरणीय हैं। इन्होंने बुरे वक्त में मुझे सहारा दिया।

सहपाठियों में भारत भूषण और कुंदन को आभार! इनके सहयोग सदा स्मरणीय रहेंगे।

प्रशांत और निशांत बंधुओं के प्रति कृतज्ञ हूँ। इन्होंने प्रेमघन सर्वस्व भाग-२ उपलब्ध कराकर मेरी मुश्किलों का हल किया। ये दोनों बंधु मेरे संघर्ष के साथी रहे हैं। मित्र लाल बाबू सिंह का सहयोग मेरे लिए संजीवनी का काम किया। मैं इनका कृतज्ञ हूँ।

अंजय भैया, वीरपाल जी और आशुतोष के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना आसान नहीं। संघर्ष और विपत्ति की स्थिति में इन्होंने कंधा दिया है। सच कहूँ तो ये लोग मेरे अपने हैं। अंजय भैया और वीरपाल जी ने मेरी जिन्दगी में बड़े भाई की कमी को पूरा किया है और आशुतोष ने छोटे भाई के सान्निध्य की कमी कभी नहीं खलने दी।

मीतू के बारे में क्या लिखूं, बस इतना ही—'हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले।' इस शोध प्रबंध की टाइपिस्ट जया जी का आभारी हूँ। इनके आत्मीय व्यवहार ने मुझे शोध प्रबंध की टाइपिंग संबंधी कई झंझटों से मुझे मुक्त रखा।

इस शोध प्रबंध के लिए अनेक पुस्तकालयों से सहायता लेनी पड़ी। इस क्रम में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, भारती भवन पुस्तकालय, इलाहाबाद, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी, त्रिमूर्ति भवन, नई दिल्ली, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, मारवाड़ी पुस्तकालय, चाँदनी चौक, दिल्ली और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय पुस्तकालय से अपार सहयोग और सहायता मिली। इनके कर्मचारियों के प्रति आभार।

अभिषेक रौशन

पहला अध्याय

आलोचना का अर्थ और हिन्दी आलोचना का आरंभ

1. आरंभिक हिन्दी आलोचना की भूमिका
2. आलोचना का अर्थ
3. आलोचकों के बाड़े में बालकृष्ण भट्ट
4. बालकृष्ण भट्ट : आलोचना के आरंभकर्त्ता

आलोचना का अर्थ और हिन्दी आलोचना का आरंभ

आलोचना के अर्थ से ही हिन्दी आलोचना के आरंभ का मामला जुड़ा हुआ है। अगर आलोचना का अर्थ सिद्धांत-निरूपण और साहित्य की 'एकांत साधना' है तो हमें इसके आरंभ की प्रक्रिया को संस्कृत काव्यशास्त्र और उस पर आश्रित रीतिवादी ग्रंथों से स्वीकार करनी होगी और अगर आलोचना का अर्थ इन धारणाओं से अलग कुछ और है तो हमें उस 'कुछ और' को तलाशना होगा और वहीं से हिन्दी आलोचना के आरंभ को रेखांकित करना होगा।

हिन्दी आलोचना की अनेक पुस्तकों में 'आलोचना' का शाब्दिक अर्थ निश्चित किया गया है। 'आलोचना' शब्द किस धातु से निकला है और किस उपसर्ग प्रत्यय से जुड़कर यह शब्द बना है, इसका विवेचन खूब हुआ है। इन विवेचनों के बाद हिन्दी आलोचना की पुस्तकों में संस्कृत काव्यशास्त्र और रीतिकालीन साहित्य शास्त्र की लम्बी-चौड़ी व्याख्या प्रस्तुत करने का आमचलन है। हिन्दी आलोचना में संस्कृत काव्यशास्त्र और रीतिवादी ग्रंथ को शामिल करना कहाँ तक सही है? क्या इन्हें हिन्दी आलोचना का अंग माना जा सकता है?

संस्कृत काव्यशास्त्र की विशाल और समुन्नत परंपरा रही है। यहाँ सिद्धांतों का महीन एवं गंभीर विवेचन हुआ है। इन सिद्धांतों के इर्द-गिर्द कविता की आत्मा, उसके हेतु और लक्षण पर विचार किया गया है। कविता की आत्मा क्या है, उसके हेतु और लक्षण क्या हैं, इन प्रश्नों से हर काव्यशास्त्री टकराता है और एक निष्कर्ष पर पहुँचता है। यहाँ अलंकार सम्प्रदाय से होते हुए ध्वनि सम्प्रदाय तक अनेक महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु हैं। इन प्रस्थान बिन्दुओं में महत्वपूर्ण संकेत हैं। चाहे वह कविता में शब्द और अर्थ-दोनों की महत्ता का सवाल हो या रस निष्पत्ति का, यहाँ गंभीरता है और इस गंभीरता से कविता के बारे में महत्वपूर्ण चिंतन उभरकर सामने आता है। पर संस्कृत काव्यशास्त्र अपनी तमाम गंभीरताओं के बावजूद साहित्यिक आलोचना नहीं है।

संस्कृत काव्यशास्त्र अपनी सैद्धांतिक जिम्मेदारी निभाता है,पर अपनी सामाजिक जिम्मेदारी को वह अनदेखा करता है। हर सिद्धांत की उपयोगिता-अनुपयोगिता की कसौटी मनुष्य और समाज होगा, यह उसके विवेचन से बाहर है। संस्कृत काव्यशास्त्र में सिद्धांतों की होड़ है, इसलिए वह साहित्यिक आलोचना नहीं है, ऐसी बात नहीं है। दरअसल इस होड़ में मनुष्य और समाज को शामिल नहीं किया गया है, इसलिए वह साहित्यिक आलोचना नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्र सीधे-सीधे रचना से बहुत कम जुड़ा है। रचना से जुड़े बिना कोई साहित्यिक मान या सिद्धांत प्रासंगिक नहीं हो सकता। रचना से जुड़ने का मतलब है रचना में व्यक्त समाज से जुड़ना, उसमें निहित रचनाकार के दृष्टिकोण से जुड़ना। अगर रचना है तो उसमें जीवन

होगा, जीवन है तो उसमें आशा-आकांक्षा, हताशा-निराशा, जय-पराजय होंगे। संस्कृत काव्यशास्त्र में रचना और जीवन के क्षेत्र अछूते हैं। यह शास्त्र रचना की 'आंतरिक बनावट' को अपने विश्लेषण का विषय बनाता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के बारे में प्रो० मैनेजर पांडेय ने सही लिखा है कि *''कृति में व्यक्त समाज उसकी व्याख्या का विषय नहीं है। उसके लिए सारा काव्य व्यापार शब्दार्थ व्यापार है और साहित्य चिंतन शब्दार्थ के सम्बन्ध के विभिन्न रूपों तक सीमित है। वह कविता की आंतरिक बनावट, उसकी रचना की पद्धति, कविता का व्याकरण और काव्य विवेक के चिंतन को मुख्य लक्ष्य मानता है।''*[1]

संस्कृत काव्य-शास्त्र में संवेदना का पक्ष गौण है, अगर संवेदना का पक्ष है भी तो उसे अपनी रूचि के अनुरूप बनाने में सारी शक्ति लगाई गई है। यह शास्त्र नायक को देवता, धीरोदात्त बनाने में ज्यादा रूचि लेता है। 'होरी' संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार नायक नहीं हो सकता। संस्कृत काव्यशास्त्र के एजेंडे में यह धारणा है ही नहीं कि रचना में मनुष्य और समाज होता है, उसके जीवन और संघर्ष होते हैं। वह रचना को सैद्धांतिक उपकरणों के माध्यम से चमकाने का उपादान प्रस्तुत करता है। रचना को अनुशासित करने और उसको एक दिशा देने के लिए सिद्धांत जरूरी है, पर सिद्धांत को ही साध्य मान लेना कहाँ तक सही है! रचना के रचनात्मक स्पेस के लिए सिद्धांत के बाहर एक छूट मिलनी चाहिए ताकि रचनाकर्म पर कोई दबाव या बंधन न हो। संस्कृत काव्यशास्त्र में सिद्धांतों के घेरे में रचना को जकड़ दिया गया है। सिद्धांत से रचना को निकाला गया है रचना से सिद्धांत को नहीं, इसलिए यह शास्त्र सिद्धांतों का कोरा विवेक बनकर रह जाता है। उसके सिद्धांत से बाहर पड़नेवाली रचना भी महान हो सकती है, इस पर वह विचार नहीं करता है।

हिन्दी साहित्य में रीतिवादी ग्रंथ संस्कृत काव्यशास्त्र का परजीवी है। संस्कृत काव्यशास्त्र की गंभीरता यहाँ गायब है। चमत्कार प्रियता ही यहाँ मुख्य हेतु है। यहाँ सारा सैद्धांतिक विवेचन अलंकार विधान, रस निरूपण, छन्द योजना आदि के स्थूल विवेचन में खपा है। रीतिवादी ग्रंथ रचना-कर्म में 'बाहरी उछलकूद' को बढ़ावा देता है। संस्कृत काव्यशास्त्र से अलग हटकर यहाँ अपनी रचना के माध्यम से सिद्धांत निरूपण करने की प्रवृत्ति है। इसका प्रभाव यह पड़ा कि संस्कृत काव्यशास्त्र में जो 'सूक्ष्म विवेचन' करने की कारीगरी थी वह भी लगभग समाप्त हो गई। इस रीतिवादी प्रवृत्ति के बारे में शुक्लजी ने लिखा है—*''संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिन्दी काव्यक्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन या पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ।''*[2] रीतिवादी ग्रंथों की यह सीमा है।

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल की लोकवादिता के बाद रीतिकालीन चमत्कार प्रियता को बढ़त क्यों मिली? इस प्रश्न से हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा मुक्तिबोध जूझे हैं। यहाँ उसके विवेचन में न जाकर इतना तो कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन लोकवादिता पर रीतिकालीन शास्त्रीयता की विजय मनुष्य और

समाज पर कलावादिता की विजय है। भक्तिकालीन रचना के सहारे हिन्दी का अपना शास्त्र विकसित किया जा सकता था, पर ऐसा न होकर संस्कृत काव्यशास्त्र से अपना गठबंधन कर रीतिवादी आचार्यों ने साहित्य में मनुष्य और समाज को नकारा है। रीतिवादी ग्रंथ को मात्र सिद्धांत निरूपण का शास्त्र कहकर हल्के में लेना ठीक नहीं है। रीतिवादी ग्रंथ भक्तिकालीन लोकवादिता की जगह मनुष्य और समाज से कटी रचनात्मकता को बढ़ावा देता है, दरबार और सामंती स्तुति में ही साहित्य की भूमिका निर्धारित करता है। मात्र आचार्य बनने के हौसले से ऐसा नहीं हुआ है। सारे आचार्यत्व और सिद्धांतों की कारीगरी में कहीं न कहीं मनुष्य और उसके जीवन संघर्षों के प्रति नकार का भाव छिपा हुआ है। मुक्तिबोध ने बहुत सही लिखा है कि–*''जीवन-तथ्यों की वास्तविकता अर्थात् मानव यथार्थ को दृष्टि से ओझल करके सिद्धांतों को जब लागू किया जाता है, तब भूल होना स्वाभाविक होता है।''*[3] संस्कृत काव्यशास्त्र और उस पर आश्रित रीतिवादी ग्रंथों में यही हुआ।

रीतिकाल में कवियों की विशेषताओं को दोहों के माध्यम से दिखाया गया है–

''सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन को छोटे लगे घाव करे गंभीर।।'' *(विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी आलोचना, पृ०- 16 पर उद्धृत)*

या कहीं-कहीं कवियों की तुलना इसप्रकार की गई है–

''सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करतप्रकाश।'' *(विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी आलोचना, पृ०-16 पर उद्धृत)*

इन दोहों में भी रीतिवादी प्रवृत्ति है। रचना के विवेचन, उसकी प्रवृत्ति को नजरअंदाज कर कवियों की विशेषताओं को चमत्कारी अंदाज में पेश किया गया है।

प्रायः कहा जाता है कि गद्य के अभाव में रीतिकाल में आलोचना का विकास नहीं हुआ। यह सही है कि गद्य के बिना आलोचना का विकास संभव नहीं है। रचना के विश्लेषण-विवेचन के लिए गद्य जरूरी है। पद्य में रचना का विश्लेषण-विवेचन संभव नहीं हो सकता। आज आलोचना के जो मान हैं उन्हें रीतिकाल में ढूँढ़ना ठीक नहीं, पर रचना से जुड़ने की प्रवृत्ति भी तो नहीं मिलती। गद्य का बहाना बनाकर रीतिवादी ग्रंथ की प्रचारित असामाजिकता को ढँकना यथार्थ से मुँह चुराना है। उसके अंदर रचना से जुड़ने का भाव है ही नहीं, रचना में निहित 'मानुषसत्य' से उसे कुछ भी लेना-देना नहीं है, इसलिए अगर गद्य होता तो भी रीतिवादी आचार्य रचना में चमत्कारिता, दरबारीपन, सामंती अभिरूचि को बढ़ावा देते और रचना में इन्हीं प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करते। नाभादास ने गद्य में नहीं, पद्य में ही कबीर के सम्बन्ध में बड़ी महत्वपूर्ण बातें कही है। यह आलोचना नहीं है, पर रचना की केन्द्रीय प्रवृत्ति से जुड़ने की कोशिश तो है–

''भक्ति विमुख जो धर्म सुसब अधर्म करि गाये।
योग यज्ञ ब्रतदान भजन बिन तुच्छ दिखाये।।

हिन्दू तुरक प्रमाग रमैनी सबदी साखी।
पक्षपात नहीं बचन सबके हित की भाखी।।
आरूढ़ दशा है जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दर्शनी।।'' (नाभादास - भक्तमाल)

नाभादास का यह यह छप्पय कबीर की संवेदना को उजागर करता है। 'मुख देखी नाहिन भनी' यह कबीर की कविता की विशेषता है, पर क्या यह आलोचना की विशेषता नहीं है। इसलिए सवाल गद्य या पद्य का नहीं है, सवाल रचना की प्रवृत्ति को देखने, समझने और उसको व्याख्यायित करने के लिए उस दृष्टिकोण का है जो कि आलोचना के लिए जरूरी है। इस दृष्टिकोण के अभाव में गद्य अकेला क्या कर सकता है। रीतिवादी ग्रंथकार गद्य के अभाव में चमत्कारप्रियता और सामंती अभिरूचि को नहीं अपनाए, बल्कि यह उनके दृष्टिकोण में शामिल था और उनके इस दृष्टिकोण को खाद-पानी संस्कृत काव्यशास्त्र से सुलभ था। मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो संस्कृत काव्यशास्त्र और रीतिवादी ग्रंथ 'बोधहीन बौद्धिकता' का शिकार है।

1. आरंभिक हिन्दी आलोचना की भूमिका

भारतेन्दु युग में आकर रीतिकालीन मानसिकता को खत्म करने के प्रयास होते हैं। भक्तिकाल की लोकवादिता मजबूत अंदाज में सामने आती है। अब साहित्य न तो राजदरबार की वस्तु रहा और न ही 'एकांत साधना' को पर्याय, उसका समाज से जुड़ाव हुआ। समाज से जुड़ने का दबाव, साहित्य की परम्परागत धारा को बदल देता है। साहित्य भोग-विलास, सामंती अभिरूचि और चमत्कार का हेतु न होकर आम जनता और उसके जीवनसंघर्षों के बीच आ खड़ा होता है। भारतेन्दु युग में ही ऐसा क्यों हुआ? इसका जवाब यही हो सकता है कि भारतेन्दु युग में साहित्य का मनुष्य और समाज से जुड़ाव उसी तरह नहीं रहा, जो उसके पहले था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि साहित्य का 'पाठक समुदाय' बदल गया। निर्मला जैन ने इस दिशा में सही संकेत किया है कि–*''आधुनिक काल की हिन्दी आलोचना को रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी विरासत में मिली। परंतु सहसा उस परिपाटी को छोड़कर जो एक नए आलोचना मार्ग की आवश्यकता का अनुभव आधुनिक युग ने किया उसका एक बहुत बड़ा कारण साहित्य के पाठक समुदाय का बदल जाना था।''*[4] भारतेन्दुयुगीन साहित्य का जुड़ाव जिस पाठक समुदाय से हुआ वह साधारण मनुष्य था, उसकी अनेक समस्याएं थीं। उनकी आकांक्षा के अनुरूप साहित्य लिखने का दबाव भारतेन्दुयुगीन रचना को मनुष्य और समाज से जोड़ देता है और साहित्य का परिप्रेक्ष्य शास्त्र न होकर मनुष्य और समाज होता है। भारतेन्दु युग में साहित्य के इस जनतंत्रीकरण की रचनात्मक अभिव्यक्ति भारतेन्दु की रचनाओं के द्वारा होती है और सैद्धांतिक अभिव्यक्ति बालकृष्ण भट्ट के द्वारा। बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी आलोचना में सबसे पहले साहित्य की सामाजिकता को रेखांकित किया। उन्होंने लिखा–*''साहित्य जनसमूह के हृदय*

का विकास है।''[5] साहित्य की यह नई मान्यता है। साहित्य को राजदरबार से नहीं 'जनसमूह' से जोड़ने की उद्घोषणा साहित्य को ही नहीं, आलोचना की नई भूमि तैयार करती है और आलोचना अपने आधुनिक अर्थ के नजदीक पहुँचता हुआ दिखता है।

भारतेन्दु युग में साहित्य की जिम्मेदारी नए सिरे से परिभाषित हुई। इस जिम्मेदारी को परिभाषित करने की दृष्टि कहाँ से मिली? क्या यह दृष्टि पाश्चात्य अनुकरण से प्राप्त हुई? भगवत्स्वरूप मिश्र ने लिखा है—*''बौद्धिक जागृति और पाश्चात्य अनुकरण के वातावरण में आधुनिक समीक्षा पद्धति का जन्म और विकास हुआ है।''*[6] भारतेन्दु युग में बौद्धिक जागृति साहित्य और समाज के प्रति नई समझदारी पैदा करता है, पर इतना ध्यान रखना होगा कि इस बौद्धिक जागृति का हेतु विदेशी कम, देसी ज्यादा है। इस युग की बौद्धिक जागृति का कारण अपने समय और समाज की बदली हुई परिस्थितियां हैं। हिन्दी आलोचना के आरंभ का कारण 'पाश्चात्य अनुकरण' नहीं, बल्कि अपने साहित्य को अपने समय और समाज के परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की वह प्रवृत्ति है, जो युगीन आवश्यकता थी। सामाजिकता का दबाव उसे 'जनसमूह' की ओर ले गया और भारतेन्दु युगीन आलोचना की सामाजिकता आयातित नहीं है। चूँकि पाश्चात्य साहित्य में आलोचना की नई समझदारी विकसित हुई, इसलिए उसके अनुकरण में हिन्दी में भी आलोचना का जन्म हुआ और साहित्य को नए सिरे से और नवीन दृष्टि के तहत परखने की दृष्टि आई, ऐसा कहना सही नहीं है। हिन्दी आलोचना संस्कृत काव्य शास्त्र और रीतिवादी ग्रंथों से जुड़ सकती थी, उसने पाश्चात्य आलोचना का दौरा क्यों किया? अगर अपने साहित्य और समाज के प्रति दायित्व बोध पैदा नहीं होता, तो क्या तथाकथित पाश्चात्य अनुकरण हिन्दी आलोचना का भाग्यविधाता बनता? हिन्दी आलोचना के जन्म का केन्द्रीय कारण अपने समय और समाज की बदली हुई परिस्थिति में अपने साहित्य को देखने-समझने की प्रवृत्ति है। पाश्चात्य आलोचना से हिन्दी आलोचना ने बहुत कुछ सीखा है, पर उसी को मूल कारण मान लेना हिन्दी आलोचना के आरंभ के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को नकारना है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने सही लिखा है—*''आलोचना उन विधाओं में से है जो पश्चिमी साहित्य की नकल पर नहीं, बल्कि अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के कारण जन्मी और विकसित हुई है।''*[7]

हिन्दी आलोचना के जन्म के बारे में यह धारणा है कि गद्य के विकास के कारण हिन्दी आलोचना का जन्म हुआ। यह धारणा सही नहीं है। यह सही है कि गद्य हिन्दी आलोचना के विकास में सहायक हुआ, पर यह मूल कारण नहीं है। मूल कारण साहित्य और समाज का बदला हुआ रिश्ता है। हिन्दी आलोचना के आरंभ के बारे में एक और धारणा है कि भारतेन्दु युग में नई साहित्यिक विधाओं का जन्म हुआ। कविता ही साहित्य का पर्याय नहीं रहा, बल्कि साहित्य की दुनिया का फैलाव हुआ। उन नई विधाओं को परखने के लिए नए 'प्रतिमानों' की आवश्यकता थी, क्योंकि कविता का मूल्यांकन तो परम्परागत शास्त्रीय पद्धति

द्वारा हो सकता था। इस आशय को व्यक्त करते हुए नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है–''*काव्य की समीक्षा में तो किसी प्रकार रस और अलंकार पद्धति का प्रयोग चल सकता था, परंतु गद्य और भाषा-सम्बन्धी नवीन-निर्माण में वह पद्धति काम में नहीं लाई जा सकती थी। हिन्दी में उस नवीन उपन्यास, नई कहानी और नए काव्य-अनुवाद भी प्रस्तुत होने लगे थे, जिनके विवेचन के लिए प्रतिमानों की आवश्यकता थी।*''[8] क्या नवीन साहित्यिक विधाओं का जन्म आलोचना के विकास में सहायक हुआ? अगर नवीन साहित्यिक विधाओं का जन्म नहीं होता तो आलोचना काव्य समीक्षा में रस और अलंकार पद्धति से काम चला लेती; आलोचना का यह कामचलाऊ तरीका कहाँ तक प्रासंगिक और कारगर होता? क्या भक्त कवियों का कविताओं को सिर्फ रस और अलंकार पद्धति द्वारा परखा जा सकता है? सच तो यह है कि काव्य समीक्षा भी सही तरीके से रस और अलंकार पद्धति द्वारा नहीं हो सकती, वह समीक्षा कला के नाम पर कलाबाज़ी होगी। भारतेन्दु युग में नवीन साहित्यिक विधाओं का जन्म साहित्य की सामाजिक जिम्मेदारी के तहत हुआ। साहित्य और समाज के प्रति नई जिम्मेदारी का भाव आलोचकों को काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों से अलग नया रास्ता खोजने को मजबूर करता है। काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों द्वारा उन नवीन साहित्यिक विधाओं को परखना मुश्किल था, इससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतेन्दु युग में काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों की आवश्यकता हाशिये पर चली गई थी। इस संदर्भ में निर्मला जैन ने सही कहा है कि–''कहा जाता है कि इस युग में गद्य शैली और उपन्यास, नाटक आदि नई रचना-विधाओं का विकास आलोचना के लिए साधक हुआ। परंतु ध्यान से देखा जाए तो यह बात का सरलीकरण है। बात सिर्फ इतनी नहीं है कि आलोचना का काम इसलिए आसान या कुछ अलग किस्म का हो गया कि उसे अभिव्यक्ति के गद्य शैली और विषय के लिए नई विधाएँ मिलीं। इस बदलाव का सम्बन्ध इससे कहीं अधिक गहरे उस नए ढंग की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है जो इस साहित्य के माध्यम से सामने आई।''[9]

2. आलोचना का अर्थ

हिन्दी आलोचना अपने आरंभ से ही अपने अर्थ को पाने की कोशिश करती है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना के बारे में यह बात स्वयं सिद्ध मान ली गई है कि यह कृति के गुण-दोष विवेचन तक सीमित है, यह कहकर भारतेन्दुयुगीन आलोचना को हल्के में निपटा दिया जाता है। ध्यान से देखने से पता चलता है कि जिसे हम आधुनिक आलोचना कहते हैं उसकी नींव भारतेन्दु युगीन आलोचना में पड़ चुकी थी। यह सही है कि आज आलोचना के अर्थ का जितना फैलाव और विस्तार हुआ है उतना उस युग में नहीं हुआ था और ऐसी माँग रखना अतिवादिता होगी। आलोचना के अर्थ की सार्थकता रचना से जुड़ाव में है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना में इस जुड़ाव को महसूस किया जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगितास्वयंवर' की आलोचना करते हुए लिखा–''*लाला जी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपसे धीरे से पूछै वह यह है कि आज ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे?*''[10] यहाँ भट्टजी जिस शांत

और गंभीर भाव से 'लालाजी' से जुड़ रहे हैं उसी भाव से उनके नाटक से–''*एक बात आपसे धीरे से पूछैं*''–यही शांत और गंभीर भाव आगे व्यंग्य में बदल जाता है।

आलोचना का रचना से जुड़ाव उसे रचना की व्याख्या और विश्लेषण तक ले जाता है। इस व्याख्या और विश्लेषण में संतुलित दृष्टि का होना जरूरी है। इसके अभाव में वह व्याख्या और विश्लेषण एकांगी हो जाता है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा–''*संपादक को धुँधला तथा उजाला दोनों भाग दिव्य दृष्टि से देखना चाहिए।*''[11] संपादक की यह जिम्मेदारी आलोचक की भी जिम्मेदारी है। यह जिम्मेदारी आलोचना के अर्थ को पुष्ट करती है।

भारतेन्दु युग में आलोचना का अर्थ क्या था, यह बदरीनारायण चौधरी की इस बात से स्पष्ट होता है–''*रिव्यू अर्थात् समालोचना का अर्थ पक्षपात रहित होकर न्यायपूर्वक किसी पुस्तक के यथार्थ गुण-दोष की विवेचना करना और उसके ग्रंथकर्ता को एक विज्ञप्ति देना है क्योंकि रचित ग्रंथ के रचना के गुणों की प्रशंसा कर रचयिता के उत्साह को बढ़ाना एवं दोषों को दिखलाकर उसके सुधार का यत्न बताना कुछ न्यून उपकार का विषय नहीं है।*''[12] जाहिर है यहाँ आलोचना का अर्थ रचना के गुण-दोष विवेचन से है, पर इसमें एक 'उपकार' का यत्न है और यह उपकार रचना और समाज दोनों का दिशा देने वाला है। इस युग की आलोचना में 'गुण-दोष विवेचन को देख नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं है। आलोचना की बुनियादी चेतना का निर्माण रचना में गुण-दोष की उपस्थिति से होता है, आगे इसका फैलाव होता है और इसमें नई जिम्मेदारी जुटती है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना गुण-दोष विवेचन के क्रम में रचना से तो जुड़ती ही है, इस क्रम में एक दृष्टि भी सामने आती है। बालकृष्ण भट्ट ने 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' में लिखा–''*नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य हृदय से आपका कितना गाढ़ा परिचय है यह दरसाना चाहिए।*''[13] रचना में मनुष्य हृदय की पहचान आधुनिक दृष्टि को प्रस्तुत करता है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना में गुण-दोष विवेचन एक दृष्टि के तहत हुई है।

आलोचना के लिए 'न्याय और सत्य' जरूरी है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ आलोचना अपने अर्थ को खंडित करती है। 'संयोगिता स्वयंवर' की प्रशंसा पर बालकृष्ण भट्ट की टिप्पणी गौरतलब है–''*लाला श्रीनिवास दास जी को चाहिए कि जिन महाशय ने उनके नाटक की 'उक्ति वक्ता' में बड़ी सराहना की है उनको कोटि-कोटि धन्यवाद दें। क्योंकि जल्दी में उनके लेख में ऐसा प्रबल पक्षपात करने वालों 'क्रिटिक' गुण-दोष विवेचक दूसरा न मिलेगा। निस्संदेह विवेचक महाशय ने जैसा अपने मित्र के पोषण का ध्यान अपने मन में दृढ़ता के साथ जमाया है यदि उसका आधा भी श्रम न्याय और सत्य क्या वस्तु है इस विषय पर लगाते तो एक चीज हो जाते।*''[14] हिन्दी आलोचना शुरू से न्याय और सत्य की पक्षधर रही है। झूठी प्रशंसा करना आलोचना नहीं है। यह 'नेक सलाह' आलोचना के लिए और रचना के लिए भी।

आलोचना के संदर्भ में शिवदान सिंह चौहान ने बड़ी मार्के की बात कही है कि–''*आलोचक साहित्य*

मंदिर का द्वारपाल होता है।''[15] आलोचक अगर 'द्वारपाल' है तो 'साहित्य मंदिर' की रक्षा के साथ-साथ कोई गलत प्रवृत्ति उसमें प्रवेश न करे, यह जिम्मेदारी भी उस पर होती है। आलोचना साहित्य मंदिर की रक्षा करती है, उसकी पूजा नहीं करती। अगर पूजा होगी तो 'न्याय और सत्य' नहीं होगा। किसी रचना में सही या गलत प्रवृत्ति है, यह जाहिर करने का आधार क्या होना चाहिए? किसी रचना या आलोचना में सही-गलत प्रवृत्ति है, इसको परखने का आधार यही हो सकता है कौन-सी प्रवृत्ति मनुष्य और समाज से जुड़ी हुई है, कहाँ व्यापक समाज की चिंता और उसकी आशा-आकांक्षा है? जहाँ मनुष्य और समाज से लगाव नहीं और व्यापक समाज की चिंता, उसकी आशा-आकांक्षा और संघर्ष नहीं है, वह प्रवृत्ति प्रतिगामी है और इसी आधार पर इस प्रवृत्ति का रचना या आलोचना में विरोध होना चाहिए। जहाँ गलत प्रवृत्ति साबित करने का आधार पूर्वग्रह हो, वहाँ रचना के साथ-साथ आलोचना के साथ भी अन्याय होता है। शुक्ल जी का कबीर सम्बन्धी विवेचन इसका प्रमाण है।

रचना से असहमति भी आलोचना को जन्म देती है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—*''हमारा इस पराधीन दशा में रहने का एकमात्र कारण यही है कि हमको किसी बात से कभी असंतोष होता ही नहीं।''*[16] यहाँ उन्होंने पराधीन भारत की मानसिकता को दिखाया है। पर यह 'असंतोष' रचना या आलोचना के लिए भी जरूरी है। असंतोष या असहमति प्रश्न करने की प्रवृत्ति पैदा करती है। हर रचना या आलोचना अपने समय और समाज से प्रश्न पूछती है और उसको विचारने के लिए प्रश्न देती है। यह असंतोष और असहमति किसी आग्रह या आस्था में न बदल जाए, यह ध्यान रखना जरूरी है। किसी रचना या आलोचना पर संदेह करना एक बात है और सम्मोहित होना बिल्कुल दूसरी बात। संदेह का अंत अगर सम्मोहन पर हो तो रचना और आलोचना दोनों का नुकसान होता है। ऐसी बात नहीं कि रचना या आलोचना में सम्मोहन या आस्था नहीं होती, पर इसकी सार्थकता तभी है, जब यह मनुष्य और समाज के संघर्षों और जीवन मूल्यों के प्रति हो। इस आस्था या सम्मोहन में 'भविष्य निर्माण' का स्वप्न हो। मुक्तिबोध ने सही लिखा है कि—*''जब तक हमें भविष्य निर्माण के स्वप्न नहीं आते तब तक हमारी कला और साहित्य कमजोर रहेगा और उसमें सच्ची शक्ति नहीं आएगी।''*[17] रचना में एक संभावना हो जिसमें भविष्य के निर्माण की अनुगूँज हो। यह सही है कि रचना अपने समय की वास्तविकता से टकराकर अपनी सर्जनात्मकता को आगे बढ़ाती है, पर सिर्फ वास्तविकता से वह सर्जनात्मकता पुष्ट नहीं हो सकती, इसके लिए वास्तविकता के साथ संभावना जरूरी है। रचना की सार्थकता वास्तविकता के साथ संभावना को साथ लेकर चलने में है—एक ओर 'दुःख ही जीवन की कथा रही' तो दूसरी ओर 'और भी फलित होगी छवि' या 'जागे जीवन का रवि', एक ओर 'मित्रवर! विजय होगी न समर' तो दूसरी ओर 'वह एक और मन रहा राम का जो न थका', कहीं 'है अमानिशा उगलता गगन घन अंधकार' तो कहीं 'केवल जलती मशाल'—वास्तविकता के साथ संभावना। शुक्लजी इसे ही 'विरोद्धों का सामंजस्य' कहते हैं। आलोचना इस 'विरोद्धों के सामंजस्य' को

रेखांकित करती है।

आलोचना के लिए रचना से जुड़ाव आवश्यक है, यह आलोचना की प्राथमिक शर्त है अंतिम शर्त नहीं। जहाँ रचनाकार अपने समय और समाज से जुड़ा होता है वहीं आलोचक अपने समय और समाज के साथ-साथ रचना के समय और समाज से जुड़ता है। एक, रचना द्वारा निर्मित लोक दूसरा, आलोचक का लोक जिसमें वह जी रहा है और जिसे भोग रहा है, इन दोनों लोकों की टक्कर में ही 'सच्ची समालोचना' पैदा होती है। आलोचक रचना के साथ-साथ रचना की परम्परा और परिवेश के प्रति भी सजग होता है। प्रो० मैनेजर पांडेय ने लिखा है—''*आलोचना के प्रतिमान रचना की परम्परा और रचना के परिवेश से प्राप्त होते हैं केवल रचना से नहीं।*''[18] रचना की परम्परा और उसके परिवेश से जुड़ने का मतलब है रचना को 'एकांत साधना' न मानकर उसको रचना की परम्परा और परिवेश के परिप्रेक्ष्य में देखना। कबीर या मीरा की कविता को उसकी परंपरा और परिवेश को समझे बिना उसकी सही व्याख्या और विश्लेषण नहीं हो सकता। रचना में जीवन है तो आलोचना इससे कतराकर नहीं निकल सकती। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है—''जीवन में अर्थ का संधान रचनाकार करता है और रचना में अर्थ का संधान आलोचक।''[19] रचना में 'अर्थ का संधान' आलोचना का दायित्व है, पर यह तभी सार्थक और प्रासंगिक होगा जब हम रचना में आए जीवन, उसके मूल्य, रचना की विचारधारा को सही तरीके से परख सकें। 'मैला आँचल' आंचलिक उपन्यास है, इसमें गांव की जिन्दगी चित्रित है, इतने भर से आलोचना की भूमिका समाप्त नहीं हो जाती। किसी रचना का सामाजिक आधार क्या है, उसके सृजन के स्रोत क्या हैं, उसमें कौन-सी जीवन-दृष्टि निहित है, उसकी भाषा कैसी है, इन प्रश्नों से टकराकर ही आलोचना सही मायने में 'रचना में अर्थ का संधान' कर सकती है।

आलोचना की यह जिम्मेदारी है कि रचना में जो जीवन आया है वह वास्तविक है या नहीं, इसकी पड़ताल करे। रीतिवादी कविता में भी एक जीवन है, उसमें भी दूध, दही, ग्रामीण शब्दावली की भरमार है, वहाँ भी प्रेम का चित्रण और विरह की चुभन है, पर यह वास्तविक नहीं, बल्कि यह 'बाहरी नाप जोख' और 'उछलकूद' के द्वारा प्रेरित है। शुक्ल जी ने रीतिवादी कविता में आए जीवन की सही पड़ताल की है। मुक्तिबोध ने सही लिखा है कि—''*यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है तो समीक्षक को तो यह जानना ही पड़ेगा कि उद्घाटित जीवन वास्तविक जीवन है या नहीं।*''[20] रचना में आया जीवन बनावटी जीवन का जंजाल तो नहीं है या शुक्ल जी के शब्दों में कहें तो 'नकली हृदय का कारखाना' तो नहीं है, इसको परखे बिना आलोचना का अर्थ अधूरा रहेगा।

रचना में आए जीवन, उसके मूल्यों की पड़ताल के लिए एक दृष्टि चाहिए। दृष्टिहीनता के अभाव में आलोचना रचना की सही मायने में व्याख्या और विश्लेषण नहीं कर सकती। आलोचक की दृष्टि उसकी विचारधारा से प्रभावित और प्रकाशित होती है। इसी तरह रचनाकार भी एक विचारधारा के तहत ही अपनी

रचना में जीवन और उसके मूल्यों को प्रकाशित करता है। रचना में विचारधारा है तो आलोचना बिना विचारधारा के कैसे हो सकती है। बालकृष्ण भट्ट जब कहते हैं–''*साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है*'' तो इसमें एक विचारधारा है। या तुलसीदास जब लिखते हैं–

''*कबि न होऊ नहिं चतुर कहावऊँ।*
मति अनुरूप राम गुन गावऊँ।।'' (तुलसीदास-बालकाण्ड, रामचरितमानस)

तो यहाँ एक विचारधारा है। वे 'मति' के अनुरूप राम के 'गुन' गाने की बात करते हैं। यह 'मति' क्या है? रचनाकार का दृष्टिकोण ही तो है और दृष्टिकोण के निर्माण में विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विचारधारा साहित्य को, जीवन को देखने की एक दृष्टि देती है। विचारधारा के बारे में प्रो० मैनेजर पांडेय ने लिखा है–''*विचारधारा केवल विचारों की धारा नहीं है। उसमें विचार, आस्था, विश्वास और मूल्य चेतना का भी योग होता है। वह एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में बनी सामाजिक चेतना है, उस चेतना की गतिविधियों की संघटना है। उसमें चेतना को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता होती है।*''[21] विचारधारा के निर्माण में 'विचार, आस्था, विश्वास और मूल्यचेतना का योग यह सिद्ध करता है कि वह एक व्यापक दृष्टिकोण का निर्माता है और यह दृष्टिकोण युग के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और लेखक के सामाजिक अस्तित्व द्वारा पुष्ट होता है। कबीर का युग सामंती और ब्राह्मणवादी दबाव का युग है। उनकी चेतना के निर्माण में उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का बहुत बड़ा योगदान है। यहाँ सवाल उठता है कि तुलसी का रचना-कर्म भी लगभग उसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हुआ है, फिर कबीर और तुलसी की विचारधारा में इतना अंतर क्यों है? इसमें अंतर का मूल बिन्दु है कि एक, उस व्यवस्था (वर्णाश्रम) को मानव समुदाय के हित में देखता है, दूसरा उसे मानवहित के समर्थन में। दोनों की विचारधारा में अंतर का होना उनकी ऐतिहासिक चेतना में अंतर का होना है। इसी अंतर से प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी विचारधारा का निर्माण होता है।

विचारधारा रचना और आलोचना दोनों को समझने की दृष्टि देती है। विचारधारा उनकी बाधक नहीं बंधु होती है। इसलिए यह कहना कि विचारधारा के आने से रचना की स्वायत्तता खंडित होगी, वह अशुद्ध होगी, ठीक दृष्टिकोण नहीं है। विचारधारा विहीनता की स्थिति में रचना या आलोचना की पूजा तो की जा सकती है उसकी व्याख्या और विश्लेषण नहीं। मलयज ने सही लिखा है कि–''*विचारधारा सोचने-समझने को कुंद नहीं करती, साहित्य की समझ और अनुभूति को धुंधला नहीं बनाती बल्कि अपरिभाषित अनुभव की इकट्ठा हो गई धुंध को साफ करती है।*''[22] स्पष्ट है कि विचारधारा साहित्य की समझदारी को प्रखर बनाती है। वह अव्यवस्थित चेतना को व्यवस्थित करती है।

रचना को जीवन से काटकर देखने वाले आलोचक रचना में विचारधारा की अवहेलना की माँग करते हैं। रचना के मूल्यांकन में उनकी सारी कवायद रचना में बिम्ब, प्रतीक और अन्य शास्त्रीय मान्यताओं को ढूँढने और उन्हीं को लागू करने में रहती है और यह सब साहित्य में 'गंभीर दिलचस्पी' के नाम पर किया

जाता है। एफ० आर० लीविस ने इस तथाकथित 'गंभीर दिलचस्पी पर ऊंगली रखा है। उनके अनुसार–''*साहित्य में गंभीर दिलचस्पी, व्यावहारिक आलोचना के नाम से प्रचलित 'पृष्ठांकित शब्दों' और बिम्बों के सूक्ष्म परीक्षण-कार्य तक ही अपने आपको सीमित नहीं रख सकती, सच्ची साहित्यिक दिलचस्पी का मतलब है मनुष्य में, समाज में और सभ्यता में दिलचस्पी-यहाँ तक कि इसकी कोई चौहद्दी नहीं बाँधी जा सकती।*''[23] यह सही है कि रचना में रूप पक्ष का भी महत्व होता है। रचना रूप के माध्यम से ही आकार पाती है, इसलिए इसकी अवहेलना कर सारा ध्यान वस्तुपक्ष पर लगाना सही दृष्टि नहीं है। रूप का विश्लेषण-विवेचन करना भी आलोचना कर्म का हिस्सा है।

आलोचना रचना में ऐसी विचारधारा का विरोध करती है जो रचना में प्रचार के रूप में आती है। रचना अंततः रचना है उसकी कलात्मकता की रक्षा करना आलोचना की जिम्मेदारी है। रचना में थोपी गई विचारधारा रचना और विचारधारा दोनों का नुकसान करती है। पंत की छायावादी कविता बढ़िया है मार्क्सवादी कविता बेकार। रचना में विचारधारा किस रूप में आए इस संदर्भ में एंगेल्स ने संकेत किया है। उन्होंने मार्गरेट हार्कनेस को लिखी अपनी चिट्ठी में कहा–''*लेखक के विचार जितने छुपे रहें कला की कृति उतनी ही अच्छी होती है।*''[24] रचना में विचारधारा ऊपर-ऊपर तैरती न हो, बल्कि वह रचना में निहित उसकी घटनाओं, चरित्रों के माध्यम से उद्घाटित हो। 'गोदान' में रायसाहब जैसा जमींदार भी कर्ज लेता है, इसके द्वारा प्रेमचंद दिखलाना चाहते हैं कि पूँजीवाद के सामने सामंतवाद किस तरह घुटने टेक रहा है। आलोचना का दायित्व है कि रचना में घटनाओं, चरित्रों के माध्यम से व्यक्त विचारधारा को व्याख्यायित करे।

आलोचना के अर्थ को मलयज ने शुक्ल जी के निबंध 'कविता क्या है' की पंक्तियों के माध्यम से बेहतरीन तरीके से रूपायित किया है। उन्होंने लिखा है–''रामचद्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' नामक निबंध के शुरू में ही एक वाक्य लिखा–'मनुष्य अपने भावों, विचारों को लिए दिए दूसरे के भावों और विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलता कही लड़ता हुआ अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहते हैं–''*यह जीवन की परिभाषा तो है ही, पर गौर से देखिये क्या इसमें आलोचना की परिभाषा नहीं है? और क्या रचना की भी नहीं*''[25] आचार्य शुक्ल अपनी कविता की समझदारी का प्रकरण जीवन की समझदारी से खोलते हैं। मलयज इस जीवन की समझदारी को आलोचना एवं रचना की समझदारी से जोड़ देते हैं, लेकिन यहाँ मूल नियामक जीवन ही है।

3. आलोचकों के बाड़े में बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु युग से हिन्दी आलोचना का आरंभ होता है, इस बात पर आम सहमति है। मतभेद का मूल बिन्दु है कि भारतेन्दु युग के किस आलोचक के द्वारा यह काम सही मायने में हुआ? हिन्दी आलोचना के आरंभ का श्रेय किन्हें दिया जाए? बालकृष्ण भट्ट को? भारतेन्दु को? या प्रेमघन को? उधेड़बुन का मूल आधार यही है। बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु और प्रेमघन आरंभिक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में तीन प्रमुख

हस्ताक्षर हैं। हर आलोचक ने आलोचना आरंभ के बारे में अपनी समझदारी के हिसाब से आलोचना के सूत्रपात करने का श्रेय तय किया है। हिन्दी आलोचना के आरंभ के बारे में शुक्ल जी ने लिखा–''*संवत् 1943 में भट्ट जी ने लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर'' नाटक की सच्ची समालोचना भी और पत्रों में उसकी प्रशंसा ही प्रशंसा देखकर की थी। उसी वर्ष उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी ने बहुत ही विस्तृत समालोचना अपनी पत्रिका में निकाली थी। इस दृष्टि से सम्यक् आलोचना का हिन्दी में सूत्रपात करनेवाले इन्हीं दो लेखकों को समझना चाहिए।*''[26] आगे और स्पष्ट लहजे में उन्होंने कहा–''*समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से भट्ट जी और चौधरी साहब ने ही किया। समालोच्य पुस्तक के विषय का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई।*''[27] गौरतलब है कि शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना के आरंभ करने का श्रेय भट्ट जी और प्रेमघन को दिया, जबकि 'संयोगिता स्वयंवर' पर इन दोनों की आलोचना आने से पहले भारतेन्दु ने नाटक पर अपना सैद्धांतिक निबंध 'दृश्य काव्य अथवा नाटक' (1883))लिखा था। शुक्ल जी सैद्धांतिक नहीं व्यावहारिक आलोचना को महत्व देते हैं और वे इसी दृष्टिकोण के तहत बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन को हिन्दी आलोचना आरंभ करने का श्रेय देते हैं। आलोचना की सफलता और प्रासंगिकता रचना से जुड़ने में है। इस संदर्भ में निर्मला जैन ने सही लिखा है कि–''*कालक्रम में भारतेन्दु का 'नाटक'* शीर्षक शास्त्रीय निबंध पहले प्रकाशित हो चुका था, पर शुक्ल जी ने हिन्दी में 'समालोचना' के सूत्रपात का श्रेय बालकृष्ण भट्ट और चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' को ही दिया क्योंकि 'समालोच्य पुस्तक के विषयों को अच्छी तरह विवेचन करके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई'। शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से उनकी आलोचना सम्बन्धी अवधारणा ही स्पष्ट नहीं होती, 'समालोचना' का वास्तविक स्वरूप भी उद्घाटित होता है।''[28]

भारतेन्दु युग में केन्द्रीय विधा नाटक है। भारतेन्दु ने नाटक पर ही अपना सैद्धांतिक निबंध लिखा और बाद में नाटक के माध्यम से ही व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात हुआ। इस आशय को व्यक्त करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा–''*भारतेन्दु युग का केन्द्रीय काव्य रूप नाटक है, हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना की पहल भारतेन्दुकृत लंबे निबंध 'नाटक' (1883) से होती है तब यह बहुत स्वाभाविक है हिन्दी में व्यावहारिक आलोचना की शुरूआत भी नाटक को लेकर हो।*''[29] स्पष्ट है कि रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'संयोगिता स्वयंवर' के आलोचकों से ही हिन्दी आलोचना का आरंभ माना और शुक्लजी के दृष्टिकोण को पुष्ट किया। पर उनका यह दृष्टिकोण निश्चित एवं स्थिर नहीं है। अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' में वे लिखते हैं–''*हिन्दी प्रदीप के पृष्ठों में ही हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा का जन्म होता है। 1886 के 'प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' प्रकाशित की। यदि भारतेन्दु के निबंध 'नाटक' (1883) से हिन्दी में सैद्धांतिक आलोचना का सूत्रपात होता है तो 'सच्ची समालोचना' (1886) से व्यावहारिक समीक्षा का।*''[30] रामस्वरूप

चतुर्वेदी ने शुक्लजी से आगे बढ़कर अकेले बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना को सूत्रपात करने का श्रेय दिया, पर बालकृष्ण भट्ट के पक्ष में उनकी यह राय बरकरार नहीं रह सकी। जिस दृष्टिकोण के तहत वे बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना का आरंभकर्ता मानते हैं अपने उस दृष्टिकोण का वे गला घोंट देते हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी एक और पुस्तक 'हिन्दी गद्यः विन्यास और विकास' में लिखा—''*हिन्दी आलोचना का उदय-कई अन्य गद्य रूपों की भांति भारतेन्दु के लेखन से होता है। उनका निबंध 'नाटक' (1883) एक साथ ही सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक आलोचना का सूत्रधार करता है. .....।*''[31] यहाँ रामस्वरूप चतुर्वेदी अकेले भारतेन्दु को ही सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का सूत्रकर्ता मानते हैं। बालकृष्ण भट्ट उनकी नजर से ओझल हो गए। पर वे भारतेन्दु के पक्ष में भी अपनी आस्था को बरकरार नहीं रख सके। उन्होंने एक और जगह अपनी आस्था कहीं और व्यक्त की है—''*जहाँ तक आलोचना की बात है, हिन्दी आलोचना बड़े क्रमिक ढंग से विकसित हुई है। कई सीढ़ियाँ उसने पार की हैं। शुरू किया था उसने तुलनात्मक समीक्षा से, जहाँ देव और बिहारी, सूर और तुलसी यानी किसी की सापेक्षता में चर्चा होती थी।*''[32] यहाँ रामस्वरूप चतुर्वेदी ने हिन्दी आलोचना की जिस क्रमबद्धता की बात की है, उसकी पहली 'सीढ़ी' वे भूल गए। पूरी भारतेन्दुयुगीन आलोचना उनकी दृष्टि में हाशिये पर चली गई; और उनके चिंतन के केन्द्र में 'देव और बिहारी' या 'बिहारी और देव' वाली रीतिवादी बहस से सम्बन्धित आलोचना आ गई और यहीं से वे हिन्दी आलोचना का आरंभ मानते हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने हिन्दी आलोचना के आरंभ के सम्बन्ध में चार जगह चार तरह की स्थापनाएँ दी है, इससे हिन्दी आलोचना के आरंभ को लेकर आलोचकों में वैचारिक अफरा-तफरी का अंदाजा लगाया जा सकता है।

हिन्दी आलोचना के आरंभ का श्रेय तय करने में परेशानी होती है, पर इस परेशानी का मुख्य कारण सही तथ्यों के सहारे सही आलोचनात्मक विवेक द्वारा सही निष्कर्ष तक पहुँचने का आलोचनात्मक संघर्ष नहीं है, बल्कि आस्था के सहारे अपने काम को अंजाम देने की ललक है। अकेले भारतेन्दु में ही सब कुछ खोजने-पाने की प्रवृत्ति हिन्दी आलोचना के आरंभ के सम्बन्ध में आई मान्यता में गड़बड़झाला पैदा करती है। इस क्रम में महावीर प्रसाद द्विवेदी की मान्यता को देखा जा सकता है। उन्होंने लिखा—''*आधुनिक काल में जो कुछ उन्नति हिन्दी की हुई, उसके विशेष कारण पंडित बंशीधर, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद और प्रतापनारायण मिश्र इत्यादि प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखक हैं। जीवन चरित, नाटक, समालोचना, मासिक पुस्तक और समाचार इत्यादि लिखना बाबू हरिश्चन्द्र ही ने हम सबको सिखलाया। जो कुछ इस समय देख पड़ता है, इसका सूत्रपात प्रायः उन्हीं ने किया।*''[33] महावीर प्रसाद द्विवेदी की स्पष्ट धारणा है कि भारतेन्दु ही हिन्दी साहित्य में सबकुछ का सूत्रपात करने वाले हैं। पर इस सब कुछ में 'समालोचना' को शामिल करना तथ्यों को अनदेखा करना है। भारतेन्दु का योगदान रचना के क्षेत्र में है, आलोचना के क्षेत्र में उनका काम बहुत कम है। उन्होंने नाटक पर सैद्धांतिक निबंध 'दृश्यकाव्य अथवा नाटक' लिखा और इसका अपना

महत्व है, पर इस आधार पर उन्हें आलोचना के क्षेत्र का भी महानायक घोषित करना 'विवेकहीन व्यक्तिपूजा' के सिवा कुछ नहीं है। आलोचना-कर्म में भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन के सामने ऊने हैं।

गौरतलब है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी की यह स्थापना फरवरी-मार्च 1903 की 'सरस्वती' में आई है।''[34] इस समय 'हिन्दी प्रदीप' की उम्र 25 वर्षों से ज्यादा हो गयी थी और इसमें बालकृष्ण भट्ट के साहित्य और आलोचना सम्बन्धी महत्वपूर्ण चिंतन प्रकाशित हो चुके थे, पर कम-से-कम इस समय तक महावीर प्रसाद द्विवेदी के लिए बालकृष्ण भट्ट इतने महत्वपूर्ण नहीं हुए थे कि उनकी चर्चा भी की जाए। वे बालकृष्ण भट्ट से प्रभाव भी ग्रहण किए, यह स्वीकार करना तो दूर की बात है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दु से सबकुछ सीखा होगा, पर उनके साहित्य-चिंतन पर थोड़ा बहुत भी किसी का प्रभाव है तो वह बालकृष्ण भट्ट का है। 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' में माहेश्वरी सिंह ने बड़े साहस के साथ इस सम्बन्ध में टिप्पणी की है—''*हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक महावीर प्रसाद द्विवेदी पर भट्ट जी का बहुत बड़ा ऋण है, अनेक स्थानों पर द्विवेदी जी के विचार भट्ट जी से उधार लिए प्रतीत होते हैं*''[35] इस टिप्पणी में सच्चाई है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ही ने बालकृष्ण भट्ट को नजरअंदाज नहीं किया है, बल्कि आगे भी यह क्रम चला है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने आरंभिक हिन्दी आलोचना के बारे में लिखा है—''*हम देखते हैं कि इस समय की समीक्षा में किसी विशेष शास्त्रीय नियम का अनुवर्तन नहीं हो रहा था, बल्कि भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रूचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोष उद्घाटित कर रहे थे। यह हिन्दी की नवीन प्रयोगकालीन समीक्षा का स्वरूप था।*''[36] वाजपेयी जी आरंभिक हिन्दी आलोचना में 'शास्त्रीय नियम' की अनुपस्थिति को स्पष्ट करते हैं। इस युग के आलोचक अपनी समझदारी और रूचि के हिसाब से रचनाओं में केवल गुण-दोष को दिखा रहे थे, नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कहना पूरी तरह सही नहीं है। इस युग की आलोचना में शास्त्र है। यहाँ नाटक, कविता, उपन्यास से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विचार सामने आए हैं। यह काम बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु और प्रेमघन के द्वारा हुआ है। इस युग का साहित्य शास्त्र पारंपरिक नहीं, बल्कि युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप नया है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने फूटनोट में इस युग के 'समीक्षक' का नाम यूँ दिया है—''*इस समीक्षा के प्रवर्त्तक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री आदि थे।*''[37] इसमें बालकृष्ण भट्ट का नाम नहीं है। नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि में बालकृष्ण भट्ट इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं कि आरंभिक हिन्दी अलोचना के आलोचकों में उनका नाम लिया जाए।

आरंभिक हिन्दी आलोचना के बारे में आमतौर पर यह धारणा बनी हुई है कि इस युग में प्रेमघन और भारतेन्दु ही महत्वपूर्ण आलोचक हैं। अधिकांश जगह बालकृष्ण भट्ट को किनारे करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। कहीं आस्था के द्वारा तो कहीं तथ्यों की हेराफेरी के द्वारा और कहीं यूँ ही अनुमान के सहारे हिन्दी आलोचना आरंभ के बारे में निष्कर्ष निकाला जाता है। आलोचकों द्वारा हिन्दी आलोचना के आरंभ

के बारे में बनी-बनाई धारणा का 'तोतारटंत' किया जाता है। भगवत्स्वरूप मिश्र इस स्थिति के शिकार हैं। उन्होंने लिखा—''*साधारणतः हिन्दी विद्वानों की यह धारणा बनी हुई है कि प्रेमघन जी ही सर्वप्रथम समालोचक हैं। इसमें इतनी ही समीचीनता है कि पुस्तक के गुण-दोषों का जैसा तटस्थ और साहित्यिक विश्लेषण उन्होंने किया है, वैसा उनके पूर्व तथा उनके युग में भी हिन्दी का कोई समालोचक नहीं कर सका।*''[38] भारतेन्दुयुगीन आलोचना पुस्तक के गुण-दोष निरूपण के क्रम में ही आगे बढ़ी है। भगवत्स्वरूप मिश्र की स्थापना है कि प्रेमघन के जैसा पुस्तक के गुण-दोष निरूपण उस युग में आलोचक नहीं कर सका। उनका गुण-दोष निरूपण तटस्थ है और इस आधार पर भगवत्स्वरूप मिश्र प्रेमघन को पहला आलोचक मानने की स्वीकृति देते हैं। बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की तुलना में ज्यादा मजबूत है और फिर तथ्य यह भी कहता है कि बालकृष्ण भट्ट की यह आलोचना प्रेमघन के समय में ही छपी थी। इसलिए इस बात की उद्घोषणा करना सही नहीं है कि 'पुस्तक के गुण दोषों का जैसा तटस्थ और साहित्यिक विश्लेषण' प्रेमघन ने किया है 'वैसा उनके पूर्व तथा उनके युग में भी हिन्दी का कोई समालोचक नहीं कर सका।' भगवत्स्वरूप मिश्र किस विद्वान की धारणा के आधार पर प्रेमघन को 'सर्वप्रथम समालोचक' मानने की पुष्टि करते हैं और यह स्पष्ट नहीं है। ऐसा नहीं है कि उनका झुकाव प्रेमघन की ओर है। उन्होंने अपना मंतव्य आगे जाहिर किया है। भगवत्स्वरूप मिश्र लिखते हैं—''*पर जैसे साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भारतेन्दु ही नवीन क्रांति के अग्रदूत हैं वैसे हमें उन्हें इस क्षेत्र की जाग्रति का श्रेय देना पड़ता है।*''[39] 'श्रेय' देने की यह कौन-सी लाचारी है। ऐसी बात नहीं है कि भगवत्स्वरूप मिश्र सच्चाई से वाकिफ नहीं हैं। यहाँ अज्ञानता में भारतेन्दु की भक्ति नहीं हो रही है, बल्कि सबकुछ जानते हुए हो रही है। भारतेन्दु को ही सबकुछ का श्रेय देने की ललक आलोचकों को गजब के चक्रव्यूह में फँसा देती है। भगवत्स्वरूप मिश्र इस चक्रव्यूह में फँस गए हैं। वे पहले 'विद्वानों' की धारणा के आधार पर प्रेमघन को सर्वप्रथम आलोचक मानने की सहमति दिखाते हैं, पर चूँकि इस सहमति से भारतेन्दु का कद छोटा हो सकता है इसलिए वे तुरंत लाचारी भरे स्वर में भारतेन्दु को आलोचना के क्षेत्र का नायक घोषित करते हैं। पर उनके भीतर सच्चाई का उबाल भी है। यह उबाल भगवत्स्वरूप मिश्र की भारतेन्दु के प्रति आस्था को अंगूठा दिखा देता है। वे लिखते हैं—''*प्रेमघन जी और भट्ट जी ने सैद्धांतिक विवेचन का उपयोग अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में ही किया है। वे रचना की समीक्षा के मानदंड का उल्लेख इन सिद्धांतों के रूप में पहले करा देते हैं और फिर उसी आधार पर कृति का मूल्यांकन करते हैं। भट्टजी की 'सच्ची समालोचना' इसका सुन्दर उदाहरण है। समालोचना के इसी पद्धति के विकसित रूप के दर्शन शुक्ल जी में होते हैं। हिन्दी में इस पद्धति की धारा बराबर प्रवाहित हो रही है।*''[40] अब जाकर भगवत्स्वरूप मिश्र सही जगह पर पहुँचते हैं। जब उनकी आस्था पर सच्चाई और आलोचनात्मक विवेक हावी होते हैं तब जाकर भट्ट जी उनकी दृष्टि में आते हैं। उन्होंने बालकृष्ण भट्ट को शुक्ल जी से जोड़कर अपनी सही दृष्टि का परिचय दिया है।

हिन्दी आलोचना के आरंभ के बारे में सही निष्कर्ष निकालने का प्रश्न भारतेन्दु के प्रति आस्था-अनास्था के प्रश्न से जुड़ जाता है, इसलिए आलोचकों की दृष्टि मकड़जाल में फँसी प्रतीत होती है। आलोचना के क्षेत्र में भारतेन्दु का योगदान कम है, पर इस कमी को मनगढ़ंत तर्कों के द्वारा समझाने (Rationalise) का प्रयत्न किया गया है और उन्हें आलोचना के क्षेत्र में भी नायकत्व प्रदान किया गया है। इस संदर्भ में पी० वासवदत्ता के विचारों को देखा जा सकता है। उन्होंने लिखा--''*समालोचना के क्षेत्र में भारतेन्दु ने अपेक्षाकृत कम कार्य ही किया था, परंतु उस समय के साहित्यकारों के लिए वे प्रेरणाशक्ति प्रदान करनेवाले थे। प्रत्येक क्षेत्र में उनकी पहुँच थी परन्तु उन्होंने समालोचना का क्षेत्र पं० बदरीनारायण चौधरी, पं० बालकृष्ण भट्ट आदि विद्वानों के लिए छोड़ दिया था। कारण वह युग हिन्दी साहित्य का आरंभिक युग था, उसमें रचनात्मक साहित्य की कमी उन्हें अपना संपूर्ण ध्यान रचनात्मक क्षेत्र की ओर केन्द्रित करना पड़ा। इन सबसे यह अभिप्राय कभी नहीं लेना चाहिए कि उनकी पहुँच समालोचना में नहीं थी।*''[41] यहाँ पी० वासवदत्ता ने कुछ दूसरे तरीके से भारतेन्दु का गुणगान किया है। रचना के क्षेत्र में भारतेन्दु की महत्ता जगजाहिर है, पर आलोचना में भी वे उतने ही महत्वपूर्ण हैं, यह आस्था और अटकल का विषय हो सकता है। वे अपने युग की जरूरत के अनुकूल रचना के दबाव के चलते आलोचना के क्षेत्र में अपना काम नहीं कर पाए, यह मनगढ़ंत तर्क है। और फिर यह कहना कि भारतेन्दु ने अपने-आपको रचनात्मक साहित्य में लगाते हुए आलोचना का क्षेत्र पं० बदरीनारायण चौधरी और पं० बालकृष्ण भट्ट के लिए छोड़ दिया था, यह बचकानी दृष्टि के सिवा कुछ नहीं। भारतेन्दु युग कोई कम्पनी या ऑफिस तो था नहीं कि मैनेजरी का काम कोई एक सँभाले और लिपिक का कोई दूसरा। भारतेन्दु युग में हर लेखक ने अपनी दृष्टि तथा विषयों में अपनी पकड़ के हिसाब से अपने काम को अंजाम दिया है।

भारतेन्दु की महिमामंडन के बाद पी० वासवदत्ता प्रेमघन की ओर अपना रूख करती हैं। उन्होंने प्रेमघन को हिन्दी आलोचना के 'सूत्रकर्त्ताओं' में रखकर देखा है। अब उनका ध्यान यथार्थ की ओर आया है। पर इस यथार्थ में बहुत बड़ी गड़बड़ी है। प्रेमघन की आलोचना के बारे में लिखते हुए उन्होंने शुक्ल जी का यह उद्धरण दिया है--''*समालोचना का सूत्रपात एक प्रकार से चौधरीसाहब ने किया। समालोच्य पुस्तकों के विषयों का अच्छी तरह से विवेचन करने एवं उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई।*''[42] पी० वासवदत्ता के द्वारा उद्धृत शुक्ल जी का यह उद्धरण क्या सही है? या इसमें गड़बड़ी है? शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना के आरंभ के बारे में लिखा--''*समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से भट्ट जी और चौधरी साहब ने किया। समालोचना पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई।*''[43] पी० वासवदत्ता ने शुक्ल जी की इस मान्यता से भट्ट जी का नाम हटाकर सिर्फ प्रेमघन-'चौधरीसाहब' का नाम रखते हुए शुक्ल जी की इस मान्यता को उद्धृत किया है। शुक्ल जी ने 'भट्टजी और चौधरीसाहब' दोनों को जगह दी है। पी० वासवदत्ता के यहाँ

सिर्फ चौधरी साहब, वो भी शुक्ल जी की मान्यता के आवरण में। यह भट्ट जी के साथ अन्याय तो है ही साथ में शुक्ल जी के साथ कहीं ज़्यादा अन्याय है।

शुक्ल जी की मान्यता से बालकृष्ण भट्ट के नाम को हटा देने की भी एक परम्परा है। इस क्षेत्र में पी० वासवदत्ता अकेली नहीं हैं। जो काम पी० वासवदत्ता 2001 में कर रही हैं यही काम 1950 ई० में 'प्रेमघन सर्वस्व' के संपादकों ने किया है। 'प्रेमघन सर्वस्व' भाग-2 का संपादन श्री प्रभाकेश्वर उपाध्याय श्री दिनेश नारायण उपाध्याय ने किया है। इसकी भूमिका में इन्होंने लिखा है–*''साहित्यिक समालोचना का सूत्रपात प्रेमघन जी ने हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम किया।''*[44] इस स्थापना के बाद दिनेश नारायण उपाध्याय ने शुक्ल जी को उद्घृत किया है। उन्होंने शुक्ल जी की मान्यता को यूँ रखा है–*''समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से* ***चौधरी साहब*** *ने ही किया। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई।''*[45] यहाँ भी 'भट्टजी' का नाम हटाकर शुक्लजी का उद्धरण दिया गया है। बालकृष्ण भट्ट को किनारे करने की एक परम्परा है। यह काम कहीं भारतेन्दु के महिमामंडन के द्वारा तो कहीं बालकृष्ण भट्ट पर प्रेमघन की वरीयता देने के चक्कर में तथ्यों की हेरा फेरी द्वारा किया गया है।

हिन्दी आलोचना के आरंभ के बारे में आलोचकों ने मनमाने ढंग से निष्कर्ष निकाले हैं। 'हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास' में शंभुनाथ सिंह ने लिखा है–*''आधुनिक हिन्दी साहित्य के भीतर वास्तविक समीक्षा का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के द्वारा हुआ। इनके द्वारा की गई लाला श्रीनिवासदास प्रणीत 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा ही आधुनिक समीक्षा का प्रारंभिक रूप है। यद्यपि यह समीक्षा भी पुस्तक परिचय प्रणाली में हुई है, फिर भी इसमें समीक्षा के तत्व अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवाले लगभग सभी विद्वानों ने हिन्दी आलोचना का सूत्रपात प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना' से ही माना है।''*[46] शंभुनाथ सिंह ने प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना के आधार पर उनको हिन्दी आलोचना के। सूत्रपात करने का श्रेय दिया है। अपनी इस स्थापना की पुष्टि के लिए उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवाले 'लगभग सभी विद्वानों' का हवाला दिया है। इस 'लगभग सभी विद्वानों' में कौन से विद्वान ने प्रेमघन से हिन्दी आलोचना का सूत्रपात माना है, उसका नाम नहीं दिया है। शंभुनाथ सिंह ने अटकल के आधार पर एक महत्वपूर्ण स्थापना को अंजाम दिया है और इसके लिए तथ्यों की छानबीन करने की कोशिश उन्होंने नहीं की है। शंभुनाथ सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले किस इतिहासकार के आधार पर अपनी यह धारणा बनाई, यह स्पष्ट नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि उन्होंने शुक्ल जी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नहीं देखा है जहाँ शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा है 'समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से '**भट्ट जी** और **चौधरीसाहब** ने ही किया।''[47]

शंभुनाथ सिंह ने बालकृष्ण भट्ट पर भी लिखा है। बालकृष्ण भट्ट के बारे में इनकी टिप्पणी गौर करने

लायक है–''*भारतेन्दु युग के समीक्षकों में बालकृष्ण भट्ट का भी महत्वपूर्ण स्थान है। 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित उनके कुछ निबंधों और टिप्पणियों का हिन्दी समीक्षा के विकास में अपना अलग महत्व है।*''[48] स्पष्ट है शंभुनाथ सिंह ने **बालकृष्ण भट्ट** को हल्के में लिया है और बड़ी चालाकी से उन्होंने बालकृष्ण भट्ट को किनारे किया है। पहले वे अटकल के आधार पर अकेले प्रेमघन को हिन्दी आलोचना का सूत्रकधार मानते हैं फिर बालकृष्ण भट्ट पर औपचारिक टिप्पणी करते हैं। शंभुनाथसिंह का यह वाक्य ध्यातव्य है–'*भारतेन्दु के समीक्षकों में बालकृष्ण भट्ट का **भी** महत्वपूर्ण स्थान है।*' वे प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना' को ही 'वास्तविक समीक्षा' मानते हैं। बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' उनकी नजरों से ओझल है।

रामचंद्र तिवारी ने बालकृष्ण भट्ट पर लिखा है। नगेन्द्र द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में वे लिखते हैं–''*भारतेन्दु युग में हिन्दी आलोचना का आरंभ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ, किन्तु आधुनिक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण इस काल में नहीं मिलता। 'हिन्दी प्रदीप' (1877-1910) ही ऐसा पत्र था जो अपेक्षाकृत गंभीर आलोचनाएँ प्रकाशित करता था।*''[49] रामचंद्र तिवारी ने बड़े साफ लहजे में 'हिन्दी प्रदीप' की महत्ता को रेखांकित किया है। उन्हें 'हिन्दी प्रदीप' और बालकृष्ण भट्ट को पहचानने में दिक्कत नहीं हुई है। भारतेन्दु युग के पत्रों में 'हिन्दी प्रदीप' को 'गंभीर आलोचना' प्रकाशित करने का श्रेय देना सही समझदारी का परिचायक है। पर रामचन्द्र तिवारी अपनी इस समझदारी पर खुद ही बट्टा लगा देते हैं। आगे वे लिखते हैं–''*वस्तुतः भारतेन्दु युग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज रूप में सुरक्षित है तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाओं में ही है। इस क्रम में **सबसे पहला उल्लेखनीय नाम** बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन का है।* उन्होंने श्रीनिवास दास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' और गदाधर सिंह कृत 'बंग विजेता' के अनुवादों की विस्तृत आलोचना आनंद-कादंबिनी में की थी। **इसके बाद** बालकृष्ण भट्ट और बाल मुकुन्दगुप्त ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। भट्ट जी की 'नीलदेवी', 'परीक्षागुरु', 'संयोगिता स्वयंवर' और 'एकांतवासी योगी' सम्बन्धी आलोचना तत्कालीन साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।''[50] रामचन्द्र तिवारी की उक्त स्थापना से निम्न बातें निकलती हैं–

I. 'हिन्दी प्रदीप' ही अपेक्षाकृत गंभीर आलोचना प्रकाशित करता था।

II. भारतेन्दुयुगीन समीक्षा में 'पहला उल्लेखनीय नाम' प्रेमघन का है।

III. बालकृष्ण भट्ट ने प्रेमघन की परंपरा को आगे बढ़ाया।

रामचन्द्र तिवारी अकेले 'हिन्दी प्रदीप' को गंभीर आलोचना प्रकाशित करनेवाला पत्र मानते हुए इस युग में सबसे पहले उल्लेखनीय आलोचक प्रेमघन को मानते हैं। एक तरफ बालकृष्ण भट्ट गंभीर आलोचक दूसरी तरफ प्रेमघन उल्लेखनीय आलोचक-यह उलटबाँसी क्यों है? दरअसल यह उलटबाँसी गलत तथ्यों पर आधारित है। रामचन्द्र तिवारी की स्थापना से जो तीसरी बात निकलती है कि बालकृष्ण भट्ट ने प्रेमघन की परम्परा को आगे बढ़ाया, इसी में इस उलटबाँसी का मूल कारण छिपा हुआ है। रामचन्द्र तिवारी ने पहले

प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना', 'बंगविजेता' की आलोचना के बारे में सूचना दी है और आगे वे लिखते हैं कि 'इसके बाद' बालकृष्ण भट्ट ने 'इस परम्परा' को आगे बढ़ाया। तथ्य तो यह कहता है कि बालकृष्ण भट्ट ने समीक्षा की शुरूआत हिन्दी प्रदीप के मार्च 1878 अंक से ही शुरू कर दी थी जिसमें उन्होंने लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'रंधीरप्रेममोहिनी' की समीक्षा की थी। उन्होंने 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' की थी ।

उनकी 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' भी प्रेमघन से पहले की लिखी हुई है। रामचन्द्र तिवारी का यह निष्कर्ष गलत है कि बालकृष्ण भट्ट ने प्रेमघन की परंपरा को आगे बढ़ाया।

हिन्दी आलोचना में बालकृष्ण भट्ट के साथ गजब की ट्रेजेडी हुई है। वे हिन्दी आलोचना के मनमाने तंत्र के शिकार हैं। इस क्रम में राजकिशोर कक्कड़ के बालकृष्ण भट्ट सम्बन्धी दृष्टिकोण को देखा जा सकता है। राजकिशोर कक्कड़ ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास'[51] नामक वृहत पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का प्राक्कथन नगेन्द्र ने लिखा है। इस पुस्तक के प्रकरण चार में (पृ०-292) पर 'साहित्य तथा साहित्य के विभिन्न रूपों की आलोचना का विकास' नामक अध्याय में साहित्य, कविता सम्बन्धी मान्यताओं का विश्लेषण किया गया। साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं के अंतर्गत राजकिशोर कक्कड़ ने संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्य के तमाम विद्वानों की मान्यताओं की चर्चा की है। हिन्दी के विद्वानों में जगन्नाथ प्रसाद भानु, बिहारी लाल भट्ट, भगवानदीन, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल.....समेत तमाम विद्वानों की साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं की चर्चा की है।''[52] बालकृष्ण भट्ट का कहीं नामोनिशान नहीं है। राजकिशोर कक्कड़ ने महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्य सम्बन्धी इस प्रसिद्ध मान्यता को स्थान दिया है—'ज्ञानराशि के संचित कोष को साहित्य कहते हैं', पर वे बालकृष्ण भट्ट की साहित्य सम्बन्धी प्रसिद्ध मान्यता को अनदेखा कर गए हैं। 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' राजकिशोर कक्कड़ के लिए कोई मायने नहीं रखता है। इसी तरह उन्होंने प्रकरण पाँच में 'कविता सम्बन्धी आलोचना का विकास' अध्याय के अंतर्गत संस्कृत, पाश्चात्य साहित्य के तमाम विद्वानों की कविता सम्बन्धी मान्यताओं की फ़िहरिस्त दी है। हिन्दी के विद्वानों में शुरूआत महावीर प्रसाद द्विवेदी से हुई है आगे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य विद्वान चर्चा में हैं। कविता सम्बन्धी मान्यता में भी बालकृष्ण भट्ट की कहीं चर्चा नहीं है। उन्हें एक सिरे से किनारे कर दिया गया है। जब साहित्य और कविता सम्बन्धी मान्यताओं की चर्चा में बालकृष्ण भट्ट का नाम लेना जरूरी नहीं समझा गया, तब उपन्यास सम्बन्धी मान्यताओं के विश्लेषण में उन्होंने बालकृष्ण भट्ट को भुलाकर कोई अचंभा नहीं किया है।

राजकिशोर कक्कड़ ने 'व्यावहारिक आलोचना' (567-628) के विवेचन के क्रम में बालकृष्ण भट्ट को जगह दी है। वे बालकृष्ण भट्ट के बारे में लिखते हैं—''*इन्होंने प्रेमघन जी की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना को* **देखकर** *अपने पत्र हिन्दी प्रदीप में 'सच्ची आलोचना' शीर्षक से उसकी वास्तविक तथा*

सर्वांगीन आलोचना प्रस्तुत की है।''[53] पहली बात कि बालकृष्ण भट्ट की 'संयोगिता स्वयंवर' वाली आलोचना का शीर्षक 'सच्ची समालोचना' था 'सच्ची आलोचना' नही। राजकिशोर की मान्यता है कि बालकृष्ण भट्ट ने प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना को देखकर इस नाटक की 'सच्ची समालोचना' अपने पत्र 'हिन्दी प्रदीप में की थी। क्या यह सच है? बालकृष्ण भट्ट की सच्ची समालोचना प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना' से पहले प्रकाशित हुई थी। इस सच्चाई को जानने के लिए कहीं और चक्कर लगाने की जरूरत नहीं है, खुद प्रेमघन ने इस बात को स्पष्ट किया है कि बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' उनकी 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना' से पहले प्रकाशित हुई है। प्रेमघन ने 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना के क्रम में लिखा है–''*नाट्य रचना के बहुतेरे दोष 'हिन्दी प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समालोचना' में दिखलाए हैं। अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते; हम केवल यहाँ अलग-अलग उन दोषों को दिखलाना चाहते हैं जो प्रधान और विशेष हैं।*''[54] प्रेमघन के खुद स्वीकार करने के बावजूद यह बतलाना कि बालकृष्ण भट्ट ने प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना' को देखकर इस नाटक की 'सच्ची समालोचना' की,इसे तथ्यों की धाँधली ही कहा जाएगा। नगेन्द्र द्वारा संपादित पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में रामचन्द्र तिवारी ने गोलमोल अंदाज में यही भूल की है।''[55] और राजकिशोर कक्कड़ की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास' का प्राक्कथन भी नगेन्द्र ने ही लिखा है। एक जगह संपादक नगेन्द्र की पुस्तक में भूल और दूसरी जगह 'प्राक्कथन' के लेखक नगेन्द्र की पुस्तक की भूल में यह एकता क्यों है?

राजकिशोर कक्कड़ ने प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना' पर विचार किया है। उन्होंने लिखा है–''*इन्होंने 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना नाटक की ऐतिहासिकता, ऐतिहासिक नाटक की विशिष्टताओं, देशकाल तथा परिस्थिति, तत्कालीन भावधारा, भाव शैली की सरलता, चरित्र-चित्रण आदि पाश्चात्य सिद्धांतों के आधार पर तथा प्रबंध औचित्य गर्भांक, देश की राजनीति, स्वाभाविकता, सुरूचि आदि भारतीय मानदंडों के आधार पर की है।*''[56] राजकिशोर कक्कड़ का प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना के बारे में क्या यह वक्तव्य सही है? प्रेमघन ने 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना में 'नाटक की ऐतिहासिकता' 'ऐतिहासिक नाटक की विशिष्टता' आदि मुद्दों पर विचार कहाँ किया है? 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' के माध्यम से बालकृष्ण भट्ट ने 'नाटक की ऐतिहासिकता' 'ऐतिहासिक नाटक की विशिष्टता' आदि प्रश्नों को उठाया है। राजकिशोर कक्कड़ ने बालकृष्ण भट्ट के आलोचना कर्म को प्रेमघन की आलोचना में मिला दिया है। इसमें संदेह की गुंजाइश तब और नहीं रहती है जब वे प्रेमघन के नाम से 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना का उद्धरण उद्धृत करते हैं। यह उद्धरण इस प्रकार है–''*नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना परिचय है यह दर्शाना चाहिए। कृपा करके बिचारी निपराधिनी कवित्व शक्ति के भाव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजिएगा.....लालाजी*

TH-10105

आपने कभी इस बात पर भी ध्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदु प्रकृति होती है और कितनी लज्जा उनमें होती है।''[57] क्या यह स्थापना प्रेमघन की है? सच तो यह है कि यह स्थापना बालकृष्ण भट्ट की है। उन्होंने 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' के क्रम में लिखा–*''नाटक में पांडित्य नहीं वरन मनुष्य के हृदय से आपका कितना गाढ़ा परिचय है यह दरसाना चाहिए.....।''*[58] राजकिशोर कक्कड़ ने बालकृष्ण भट्ट की उक्त स्थापना को प्रेमघन के नाम से उद्धृत किया है और हद तो तब हो गई जब उन्होंने इस स्थापना का संदर्भ स्रोत 'आनंद कादंबिनी' संवत् 1942 बताया है। इसलिए यह काम अनजाने में नहीं, जानबूझकर हुआ है।

बालकृष्ण भट्ट के लिए इससे बढ़कर ट्रेजेडी और क्या होगी जब राजकिशोर कक्कड़ यह स्थापना देते हैं–*''प्रेमघन जी की प्रशंसात्मक, दोषगुण-निरूपक आलोचना पद्धति के अतिरिक्त उनकी परिचायत्मक आलोचना का भी विशेष विकास हुआ है। इनके पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में प्राचीन आचार्यों तथा कवियों के परिचयात्मक विवेचन के लिए पृथक् रूप से एक स्तंभ खुला हुआ था।''*[59] राजकिशोर कक्कड़ ने बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' को भी प्रेमघन का 'हिन्दी प्रदीप' बना दिया। यह लापरवाही हैं या धाँधली....?

हिन्दी आलोचना के आरंभ के बारे में देवी प्रसाद गुप्त ने भी विचार किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'साहित्य : सिद्धांत और समालोचना' के 'साहित्य का स्वरूप विवेचन'[60] में साहित्य की परिभाषा का विवेचन संस्कृत, पाश्चात्य तथा हिन्दी के विद्वानों की साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर किया है। राजकिशोर कक्कड़ की तरह देवी प्रसाद गुप्त ने भी हिन्दी के विद्वानों की साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं के विवेचन में महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्य सम्बन्धी मान्यता से शुरूआत की है। उन्होंने बालकृष्ण भट्ट को भुला दिया है। देवी प्रसाद गुप्त बालकृष्ण भट्ट को ही नहीं भूलते, हिन्दी आलोचना के संदर्भ में वे पूरे भारतेन्दु युग को भूल जाते हैं। उन्होंने लिखा–*''आधुनिक आलोचना का आरंभ एक प्रकार से भारतेन्दु युग के तुरंत बाद से हो जाता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आधुनिक आलोचना के रूप निर्माता कहे जाते हैं।''*[61]

आरंभिक हिन्दी आलोचना पर विचार के क्रम में बालकृष्ण भट्ट को किनारे करने के अलग-अलग तरीके अपनाए गए हैं। कहीं तथ्यों की हेरा-फेरी द्वारा तो कहीं प्रेमघन और भारतेन्दु को उनसे विशिष्ट सिद्ध कर यह काम किया गया है। प्रेमघन और भारतेन्दु के सामने बालकृष्ण भट्ट को बौना सिद्ध करने के लिए सच नहीं झूठ का सहारा लिया गया है। सुरेश सिन्हा ने बालकृष्ण भट्ट को नजरअंदाज करने का एक दूसरा तरीका अपनाया है। वे अपनी पुस्तक 'हिन्दी आलोचना का विकास' में लिखते हैं–*''जहाँ तक आलोचना का सम्बन्ध है इस काल में आलोचना का वास्तविक रूप पुस्तक परिचय तक ही सीमित रहा। 'आनंदकादंबिनी' की 'संयोगिता स्वयंवर' इसी प्रकार की आलोचना है।.....'आनंदकादंबिनी' में 'बंगविजेता' के सभी परिच्छेदों पर आलोचना हुई है।..... 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना में संतुलित दृष्टि का अभाव*

है। *आलोचक की दृष्टि दोषान्वेषण पर ही अधिक रही है।*''[62] इतना लिखने के बाद सुरेश सिन्हा बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' की प्रसिद्ध पंक्तियों से उद्धरण शुरू करते हैं—''*लालाजी यदि बुरा न मानिये तो.....।*''[63] इस उद्धरण के पहले और बाद में कहीं भी बालकृष्ण भट्ट की चर्चा नहीं है। हालाँकि इस उद्धरण का संदर्भ स्रोत उन्होंने फुटनोट में 'हिन्दी प्रदीप' बताया है। पर 'आनंदकादंबिनी' और प्रेमघन की चर्चा करते-करते बालकृष्ण भट्ट की मान्यताओं को रखना और बाद में भी बालकृष्ण भट्ट का नाम नहीं लेना यह भ्रम पैदा करता है कि बालकृष्ण भट्ट की 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' की मान्यता प्रेमघन की है। सुरेश सिन्हा ने बालकृष्ण भट्ट को बड़ी होशियारी से प्रेमघन में घालमेल करने की कोशिश की है, उन्होंने बालकृष्ण भट्ट की चर्चा बहुत आगे की है जहाँ उन्होंने लिखा है—''*भारतेन्दु तथा बालकृष्ण भट्ट आदि ने अपनी पत्रिकाओं में नाटक कविता आदि का सैद्धांतिक निरूपण करने का प्रयत्न किया है।*''[64] यहाँ दो पंक्तियों में बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु को निपटा दिया गया है। हिन्दी आलोचना में यह आम धारणा बनी हुई है कि प्रेमघन ही हिन्दी आलोचना का सूत्रपात करने वाले हैं। इसी आशय को व्यक्त करते हुए गोविन्द रजनीश लिखते हैं—''*पंडित बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' के नाट्य दोष दिखलाकर आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात किया था।*''[65] यहाँ बालकृष्ण भट्ट को भुला दिया गया है। हिन्दी आलोचना के आरंभकर्त्ताओं में वे भी हैं इसकी नोटिस लेने की जरूरत नहीं समझी गई।

हिन्दी आलोचना के आरंभ को लेकर यह भूल-भूलैया क्यों है? सब कुछ जानते-समझते हुए बालकृष्ण भट्ट नजरअंदाज क्यों किए गए हैं? कहीं उन्हें भारतेन्दु के सहारे तो कहीं प्रेमघन के सहारे क्यों पिटा गया है? यह भूल-भूलैया अपने-आप में महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है इसमें निहित विचारधारा जिसके तहत यह गड़बड़ी हुई है। कहीं आस्था पर विवेक हावी है तो कहीं विवेक पर आस्था और इसमें बालकृष्ण भट्ट पिस गए हैं। शुक्ल जी ने बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन-दोनों की हिन्दी आलोचना के सूत्रपात करने का श्रेय दिया, यह उनके आलोचनात्मक विवेक का परिणाम है, पर उनका झुकाव प्रेमघन की ओर ज्यादा है, यह शुक्ल जी के विवेचन से ही स्पष्ट है। शुक्ल जी के विवेचन में प्रेमघन की महत्ता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से चार-चार 'नमूने' को उद्धृत किया है। ये नमूने इस प्रकार हैं—

* यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ती है, क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोड़ते नहीं दिखाते।''[66]

* नाट्य रचना के बहुतेरे दोष 'हिन्दी प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समालोचना' में दिखलाए हैं।

अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते, हम केवल यहाँ अलग-अलग उन दोषों को दिखलाना चाहते हैं जो प्रधान और विशेष हैं। तो जानना चाहिए कि यदि यह संयोगिता स्वयंपर पर नाटक लिखा गया तो इसमें कोई दृश्य स्वयंवर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है; क्योंकि यही इसमें वर्णनीय विषय है।'[67]

* नाटक के प्रबंध का कुछ कहना ही नहीं, एक गंवार भी जानता होगा कि स्थान परिवर्तन के कारण गर्भांक की आवश्यकता होती है; अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी पर्दे को बदलने को दूसरा गर्भांक मानते हैं, सो आपने एक ही गर्भांक में तीन स्थान बदल डाले।''[68]

* ''गर्जे कि इस सफहे की कुल स्पीचें 'मर्चेन्ट ऑफ बेनिस' से ली गई। पहिले तो मैं यह पूछता हूँ कि विवाह में मुद्रिका परिवर्तन की रीति इस देश की नहीं बल्कि यूरोप की है, मैंने माना कि आप शकुंतला को दुष्यंत के मुद्रिका देने का प्रमाण देंगे परन्तु वो तो परिवर्तन न था किन्तु महाराज ने अपना स्मारक चिन्ह् दिया था।''[69]

प्रेमघन ने 'संयोगिता स्वयंवर' की विस्तृत एवं कड़ी आलोचना की है। शुक्ल जी ने प्रेमघन की इस आलोचना से चार-चार नमूनों को अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में जगह देकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इन चारों नमूनों में मुख्यतः 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक के दोष उद्घाटित करने के प्रयास किए गए हैं। इन चारों नमूनों के सामने बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' का एक नमूना भारी पड़ता है जिसे हिन्दी साहित्य के एक और प्रमुख इतिहासकार विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में जगह दिया है। वह नमूना है—''*क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही यह ऐतिहासिक हो गया क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने से ही वह ऐतिहासिक हो जाएगा।*''[70] बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' नाटक से जुड़े कई सवालों को उठाती है तथा उन सवालों पर सोचने की एक दृष्टि देती है। यह सिर्फ 'संयोगिता स्वयंवर' तक ही सीमित नहीं है बल्कि साहित्य की अन्य विधाओं पर भी सोचने का एक नज़रिया प्रस्तुत करती है। प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना लंबी भले हो, पर आधुनिक दृष्टि का यहाँ अभाव है। बच्चन सिंह ने प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना के बारे में सही लिखा है कि—''उसी पुस्तक की आलोचना प्रेमघन ने अपने पत्र 'आनंद कादंबिनी' में की। इसमें पुराने ढंग पर रस संधि, अलंकारों के दोष-गुण पर विचार किया गया है। भट्ट जी का दृष्टिकोण आधुनिक है तो प्रेमघन का पुरातन और पिटा हुआ।''[71] प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना पर शास्त्रीयता हावी है और वह 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक तक ही सीमित है।

शुक्लजी ने आलोचना के क्षेत्र में प्रेमघन को तरजीह दी है। उन्होंने प्रेमघन के लिए अपने इतिहास में ही अलग से लिखा—''कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे हिन्दी साहित्य में समालोचना पहले पहल

केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में प्रकट हुई। लेखों के रूप में इसका सूत्रपात बाबू हरश्चिन्द्र के समय में ही हुआ। लेख के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी ने अपनी 'आनंद कादंबिनी' में शुरू की। लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना जिसमें दोषों का उद्‌घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था, उक्त पत्रिका ने निकाली थी।''[72] शुक्ल जी ने बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' के बारे में अलग से कुछ नहीं लिखा और न ही वे इसके कोई नमूने उद्‌घृत किए। जबकि बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची आलोचना' में साहित्य और आलोचना से सम्बन्धित कई मानों को तलाशने की कोशिश है। शुक्ल जी ने बालकृष्ण भट्ट का महत्व निबंध के क्षेत्र में स्थापित किया है। उन्होंने लिखा है—''*पंडित प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी गद्य साहित्य में वही काम किया है जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था।*''[73] शुक्ल जी ने बालकृष्ण भट्ट को निबंध के क्षेत्र में महत्ता देने के साथ उनके 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता' शीर्षक निबंध के नमूनों को जगह दी है। शुक्ल जी के यहाँ आलोचना के विवेचन के क्षेत्र में प्रेमघन का पलरा भारी है। विश्वनाथ त्रिपाठी भी बालकृष्ण भट्ट को अच्छी तरह से समझने-बूझने के बावजूद, भारतेन्दु के प्रति आस्था के शिकार हो गए हैं। उन्होंने लिखा—''*भारतेन्दु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जनरूचि एवं प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है। उन्होंने बदली हुई जनरूचि के अनुसार नाट्यरचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है। भारतेन्दु के नाटक विषयक लेख में आलोचना के गुण मिल जाते है। ऐसी दशा में उन्हें हिन्दी साहित्य का प्रथम आलोचक कहना अनुचित न होगा।*''[74] भारतेन्दु का नाटक से सम्बन्धित सैद्धांतिक निबंध 'दृश्य काव्य अथवा नाटक (1883) निश्चय ही महत्वपूर्ण है और इसमें नवीनता का समावेश है, पर इस आधार पर उन्हें हिन्दी का प्रथम आलोचक सिद्ध करना सही नहीं है। शुक्ल जी जब बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन को हिन्दी आलोचना का सूत्रकर्त्ता बता रहे थे तब उनके सामने भी भारतेन्दु का नाटक से सम्बन्धित 'दृश्यकाव्य अथवा नाटक' निबंध था; पर वे इस निबंध के मोह में नहीं पड़े।

हिन्दी आलोचना में बालकृष्ण भट्ट महत्व के अधिकारी हैं। उनके महत्व को रामविलास शर्मा ने रेखांकित किया है। तथ्यों की हेरा-फेरी, आस्था और विवेक के बीच द्वंद्व बालकृष्ण भट्ट के मूल्यांकन पर छाये रहे हैं, पर रामविलास शर्मा से यह भूल नहीं हुई है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बात कृष्णभट्ट के बारे में कहा है—''*उनकी वास्तविक प्रतिभा एक अध्ययनशील विद्वान और तीक्ष्ण बुद्धि आलोचक की है। उन्हें आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्मदाता कहना अनुचित न होगा।*''[75] रामविलास शर्मा ने बिना लाग-लपेट के बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी आलोचना के 'जन्मदाता' का श्रेय दिया। रामविलास शर्मा की यह स्थापना श्रद्धावश या हवाई नहीं है बल्कि इस धारणा के पीछे एक सुनिश्चित दृष्टिकोण है। वे बालकृष्ण भट्ट के बारे में लिखते हैं—''*विचारों की उदारता में वह युग के साथ थे, कहीं-कहीं उनसे आगे भी थे। समाज और*

साहित्य के विकास के बारे में उनकी धारणाएँ उनकी अपनी थीं.....धर्म और दर्शन को सामाजिक विकास की कसौटी पर कसकर बालकृष्ण भट्ट ने प्रगतिशील आलोचना की नींव डाली थी।''[76] रामविलास शर्मा बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी आलोचना का आरंभकर्ता मानते हैं साथ में वे उनकी आलोचना की विशिष्टता को रेखांकित करते हैं। साहित्य और समाज के बारे में बालकृष्ण भट्ट का चिंतन आधुनिक है। वे भारतेन्दु युग के होते हुए भी 'आज के' लगते हैं। रामविलास शर्मा के शब्दों में—''*भट्ट जी अपने गंभीर अध्ययन, आलोचना-प्रतिभा, संयत शैली आदि गुणों के कारण बहुत कुछ आज के-से लगते हैं।''*[77] रामविलास शर्मा भारतेन्दु के विवेचक होने के बावजूद बालकृष्ण भट्ट को अपना स्थान देते हैं। हालाँकि वे भारतेन्दु के नाटक विषयक निबंध के संदर्भ में आलोचना के क्षेत्र में भारतेन्दु के महत्व को रेखांकित करते हैं, पर वे हिन्दी आलोचना का आरंभकर्ता बालकृष्ण भट्ट को ही मानते हैं और उनका मजबूत विश्लेषण करते हैं।

हिन्दी आलोचना के आरंभ के सम्बन्ध में बच्चन सिंह ने संतुलित दृष्टि का परिचय दिया है। वे किसी आस्था के दबाव में नहीं आते हैं, बल्कि उन्होंने सुलझे हुए अंदाज में कहा—''*यों सैद्धांतिक आलोचना के नाम पर भारतेन्दु ने नाटक पर एक निबंध लिखा था और प्रेमघन ने बाणभट्ट पर एक भावुकतापूर्ण प्रशस्ति मूलक लेख, किन्तु वास्तविक आलोचना का समारंभ बालकृष्ण भट्ट के निबंधों से होता है। भट्ट जी हिन्दी के पहले आलोचक हैं और 'संयोगिता स्वयंवर' पर उनकी लिखी गई उनकी आलोचना पहली आलोचना* (1886) है।''[78] बच्चनसिंह ने बालकृष्ण भट्ट को ठीक से समझा है। उन्होंने हिन्दी आलोचना की शुरूआत 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' से मानकर अपनी आलोचनात्मक समझदारी का परिचय दिया है।

राजेन्द्र शर्मा ने बालकृष्ण भट्ट पर महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। 'हिन्दी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट।' उनकी यह पुस्तक 1958 में प्रकाशित हुई थी। इसमें उन्होंने बालकृष्ण भट्ट के आलोचना कर्म पर विचार किया है। वे बालकृष्ण भट्ट के आलोचना कर्म के बारे में लिखते हैं—''*भट्ट जी ने अपने जीवन में जितनी आलोचना लिखी वह परिमाण में अधिक नहीं है, आकार से उसका प्रकार ही अधिक महत्वपूर्ण है। भट्ट जी के समक्ष आलोचना की कोई प्राचीन परम्परा प्रेरणा लेने या मार्गदर्शन के लिए नहीं थी। उन्हें तो यह परम्परा स्वयं स्थापित करनी थी। भट्ट जी आधुनिक ढंग का आलोचना के जन्मदाता हैं।''*[79] राजेन्द्र शर्मा बालकृष्ण भट्ट को आधुनिक आलोचना का जन्मदाता मानते हैं। उनकी यह स्थापना साहसपूर्ण एवं सटीक है। 'हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास भाग-13 में माहेश्वरी सिंह ने भी बालकृष्ण भट्ट के आलोचना-कर्म की महत्ता स्वीकार की है, पर एक हेरा-फेरी के साथ। यहाँ तथ्यों की हेरा-फेरी नहीं है बल्कि उन्होंने राजेन्द्र शर्मा की बालकृष्ण भट्ट से सम्बन्धित उक्त स्थापना को हू-ब-हू उतार दिया है। उन्होंने आरंभिक हिन्दी आलोचना के बारे में लिखा—''*इस काल के आलोचकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्दगुप्त आदि ही मुख्य माने जा सकते*

हैं। इन आलोचकों में भट्ट जी का महत्व सबसे ज्यादा है, ***वे आधुनिक ढंग की आलोचना के जन्मदाता है। भट्ट जी ने अपने जीवन में जितनी आलोचनाएँ लिखीं वे परिमाण में अधिक नहीं है। आकार से उसका प्रकार ही अधिक महत्वपूर्ण है। भट्ट जी के समक्ष आलोचना की कोई प्राचीन परम्परा प्रेरणा लेने या मार्गदर्शन के लिए नहीं थी। उन्हें तो स्वयं परंपरा स्थापित करनी थी।***''[80] माहेश्वरी सिंह की यह स्थापना राजेन्द्र शर्मा की स्थापना की छाया प्रति है। 'हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास' का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा ने किया है। इससे साहित्य और आलोचना के प्रति नागरी प्रचारिणी सभा की गंभीरता का पता चलता है।

4. बालकृष्ण भट्ट : आलोचना के आरंभकर्ता

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी आलोचना के आरंभ के नायक हैं। हालाँकि उनकी प्रतिद्वंद्विता प्रेमघन से बनी हुई है, पर उन्होंने साहित्य-सम्बन्धी चिंतन के क्षेत्र में प्रेमघन को पीछे छोड़ दिया है। 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी आलोचना के आरंभ का नायकत्व प्रदान करती है। इसका एक कारण यह है कि 'सच्ची समालोचना' का प्रकाशन प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से पहले हुआ था। बालकृष्ण भट्ट 'हिन्दी प्रदीप' में शुरूआत से ही पुस्तकों पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते रहे हैं; पर इसी कारण से वे हिन्दी आलोचना के प्रथम आलोचक नहीं हैं। मुख्य कारण आलोचना की पुष्टता का है। बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन एक ही युग के आलोचक हैं, यहाँ यांत्रिक तरीके से यह निर्धारित करना कि चूँकि बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' पहले छपी, इसलिए वे पहले आलोचक हैं, पूरा-पूरा सही नहीं है। राजेन्द्र शर्मा और मधुकर भट्ट ने अपनी-अपनी पुस्तक में कौन पहले छपे के आधार पर बालकृष्ण भट्ट को पहला आलोचक सिद्ध किया है। दो युगों के आलोचकों पर यह पैमाना लागू किया जा सकता है, पर जो आलोचक एक ही युग में एक ही साथ और लगभग एक ही विषय पर आलोचना कर्म कर रहे हैं, वहाँ पहले छपनेवाला पैमाना सटीक साबित नहीं होगा। हिन्दी आलोचना के आरंभ का श्रेय तय करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन की आलोचनात्मक समझदारी में किसकी समझदारी ज्यादा पुष्ट और प्रासंगिक है।

बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन की तुलना करने पर यह स्पष्ट रूप से जाहिर होता है कि बालकृष्ण भट्ट का आलोचनात्मक विवेक ज़्यादा प्रखर है। बालकृष्ण भट्ट की 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' सिर्फ 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की आलोचना नहीं है,बल्कि इसमें साहित्य से जुड़े अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है। बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के प्रथम आलोचक अपने आधुनिक दृष्टिकोण के कारण हैं। वे अपने युग के होते हुए भी युग से आगे हैं।

हिन्दी के प्रथम आलोचक का निर्धारण करते समय यह ध्यान रखना होगा कि किस आलोचक की दृष्टि का परवर्ती आलोचना में विकास हुआ। इस छानबीन में बालकृष्ण भट्ट ही भारतेन्दु युग के अकेले

आलोचक हैं जिनके चिंतन का परवर्ती आलोचना पर भरपूर प्रभाव पड़ा है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का लगाव राजदरबार से हटकर लोक और समाज से हुआ। साहित्य में मनुष्य को महत्व मिला। इस धारणा का सबसे पहले प्रतिपादन करनेवाले बालकृष्ण भट्ट हैं। उन्होंने साहित्य के बारे में आधुनिक मान्यता दी—*''साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।''*[81] बालकृष्ण भट्ट की साहित्य सम्बन्धी इस मान्यता का पूरा प्रभाव शुक्ल जी की साहित्य सम्बन्धी मान्यता में मिलता है। बालकृष्ण भट्ट साहित्य और समाज के रिश्ते की व्यवस्थित व्याख्या करने वाले भारतेन्दु युग के अकेले आलोचक हैं। बालकृष्ण भट्ट 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' के आधार पर पहले आलोचक हैं, ऐसा कहना बात का सरलीकरण है। उनके आलोचना-कर्म पर गौर करने से पता चलता है कि वे ही भारतेन्दुयुग के ऐसे अकेले आलोचक हैं। जहाँ आलोचना की पुष्टता मिलती है। जिस तरह आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबंध पहले लिखा और इसमें आई दृष्टि के आधार पर आगे अपने व्यावहारिक आलोचना को अंजाम दिया। उसी तरह बालकृष्ण भट्ट ने 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है' निबंध पहले लिखा और इस निबंध में रूपायित साहित्य और समाज के प्रति दृष्टि के सहारे अपने आलोचना-कर्म को आगे बढ़ाया है।

बालकृष्ण भट्ट के लेखन पर गौर करने से पता चलता है कि उनके लेखन से आलोचना के जितने मान उभर कर सामने आते हैं उतने भारतेन्दु युग के किसी और आलोचक से नहीं। उन्होंने कविता, उपन्यास, नाटक आदि साहित्यिक विधाओं पर महत्वपूर्ण चिंतन किया है। वे एक तरफ रीतिवादी मान्यताओं से लड़ते हैं और दूसरी तरफ आलोचना के नए मान गढ़ते हैं। वे साहित्य और सभ्यता के सम्बन्ध पर विचार करते हुए साहित्य की महत्ता स्थापित करते हैं—*''बिना साहित्य के सभ्यता वैसी ही फीकी है जैसा बिना नोन के भोजन।''*[82] बालकृष्ण भट्ट की पैनी आलोचनात्मक दृष्टि साहित्य को हर कोण से देखने का प्रयास करती है। उन्होंने कविता और चित्रकला की एकता-अनेकता पर विचार किया है। इस संदर्भ में उनका निबंध 'कवि और चितेड़े की डाड़ा मेड़ी' महत्वपूर्ण है। बालकृष्ण भट्ट द्वारा कविता और चित्रकला के सम्बन्ध पर चिन्तन एक कला की दुनिया का एक नया आयाम प्रस्तुत करता है, जिस पर बाद में नोटिस नहीं के बराबर लिया गया है।

बालकृष्ण भट्ट अपने युग के हर मुद्दे से टकराते हैं। वे हिन्दी गद्य के विकास के लिए प्राण-प्रण लगा देते हैं। उनका झुकाव गद्य के निर्माण की ओर ज्यादा है। वे ग्रामीण भाषा के हिमायती हैं। बालकृष्ण भट्ट अपने संपूर्ण चिंतन में साधारण जनों के साथ हैं। उनकी आलोचना दृष्टि अभिजन दृष्टि का विरोधी है। चाहे जातीयता का मुद्दा हो या 'Spirit of Times' का, बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि हर जगह अचूक और असरदार है।

संदर्भ-स्रोत

1. मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ० 55
2. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 129
3. नेमिचंद्र जैन (संपा०), मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5 , पृ० 135)
4. निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, पृ० 9
5. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881, पृ० 15
6. भगवत्स्वरूप मिश्र, हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास, पृ० 227
7. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी आलोचना, पृ० 17
8. नन्ददुलारे वाजपेयी, नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ० 23
9. निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, पृ० 10
10. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886 पृ० 16
11. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1906 पृ० 2
12. प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय, प्रेमघन सर्वस्व भाग-2 पृ० 446
13. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886 पृ० 16
14. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1886 पृ० 18
15. शिवदान सिंह चौहान, आलोचना के मान, पृ० 44
16. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल 1896 , पृ० 1
17. नेमिचंद्र जैन (संपा०), मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5 , पृ० 21
18. मैनेजर पांडेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ० 74
19. रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रसाद निराला 'अज्ञेय' भूमिका,
20. नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5 पृ० 84
21. मैनेजर पांडेय, शब्द और कर्म, पृ० 13
22. नामवर सिंह (संपा०), मलयज की डायरी, भाग-3 पृ० 197
23. नामवर सिंह, वादविवाद संवाद, पृ० 39 पर उद्धृत
24. मार्क्स एंगेल्स, साहित्य और कला, पृ० 107
25. नामवर सिंह (संपा०) मलयज की डायरी, भाग-3 पृ० 199

26. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 256
27. वही, पृ० 257
28. निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, भूमिका
29. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, पृ० 87
30. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ० 106
31. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, पृ० 182
32. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०), रचना और आलोचना, पृ० 2 ('रचना आलोचना और सृजन', निबंध से)
33. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ० 281 पर उद्धृत
34. वही, पृ० 261
35. माहेश्वरी सिंह, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-13 , पृ० 184
36. नन्दुलारे वाजपेयी, नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ० 24
37. वही, पृ० 24
38. भगवत्वस्वरूप मिश्र, हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, पृ० 245
39. वही, पृ० 245
40. वही, पृ० 246
41. पी० वासवदत्ता, शास्त्रवादी और स्वच्छंदतावादी साहित्यादर्श और समीक्षा प्रणालियां, पृ० 34
42. वही, पृ० 38 पर उद्धृत
43. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 257
44. प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०), प्रेमघन सर्वस्व, भाग-2 भूमिका, पृ० 18
45. वही
46. शंभुनाथ सिंह, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-13, पृ० 204
47. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृ० 257
48. शंभुनाथ सिंह, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-13 पृ० 204
49. नगेन्द्र (संपा०) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 476
50. वही, पृ० 478
51. राजकिशोर कक्कड़, आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास, एस० चंद एंड कम्पनी, 1968

52. वही, पृ० 299-378

53. वही, पृ० 579

54. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय, प्रेमघन सर्वस्व, भाग-2 , पृ० 424

55. नगेन्द्र (संपा०), हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 478

56. राजकिशोर कक्कड़, आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास, पृ० 580

57. वही

58. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886 पृ० 18

59. राजकिशोर कक्कड़, आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास, पृ० 580-581

60. देवीप्रसाद गुप्त, साहित्य : सिद्धांत और समालोचना, पृ० 46-51

61. वही, पृ० 72-73

62. सुरेश सिन्हा, हिन्दी आलोचना का विकास, पृ० 83-84

63. वही, पृ० 83-84 पर उद्धृत

64. वही,पृ० 85

65. मंजुल उपाध्याय (संपा०), समकालीन आलोचना की भूमिका, पृ० 255

66. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 257

67. वही

68. वही

69. वही, पृ० 258

70. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 75-76

71. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ० 305

72. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 288

73. वही, पृ० 255

74. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी आलोचना, पृ० 19

75. रामविलास शर्मा, भारतेन्दुयुग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, पृ० 88

76. वही, पृ० 91

77. वही, पृ० 91

78. बच्चनसिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ० 304

79. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट, पृ० 363

80. माहेश्वरी सिंह, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग -13, पृ० 182

81. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881, पृ० 15

82. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर, दिसम्बर, पृ० 18

दूसरा अध्याय

भारतेन्दुयुगीन आलोचना और बालकृष्ण भट्ट

1. सैद्धांतिक आलोचना

(क) साहित्य

(ख) नाटक

(ग) कविता

2. व्यावहारिक आलोचना

3. भाषा सम्बन्धी आलोचना

(क) गद्य का निर्माण

(ख) हिन्दी-उर्दू की एकता-अनेकता

(ग) खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा

भारतेन्दुयुगीन आलोचना और बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु युग में रचना और आलोचना दोनों स्तरों पर सर्जनात्मक संघर्ष होते हैं। जहाँ रचना के स्तर पर साहित्य को नए तरीके से सिरजना है वहीं आलोचना के स्तर पर ऐसे मान का निर्माण करना है जो रचना को नए तरीके से सिरजने में सहयोग कर सके और एक ऐसे रचनात्मक माहौल का निर्माण हो सके, जिसमें साहित्य की सामाजिक जिम्मेदारी स्पष्ट हो सके। संस्कृत काव्य शास्त्र और रीतिवादी परम्परा से प्राप्त रचना के मान नाकाफ़ी हो गए थे इसका कारण उनका सामाजिकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरना है।

भारतेन्दुयुगीन आलोचक रचनाकार और आलोचक दोनों हैं इसलिए यहाँ जिम्मेदारी ज़्यादा हैं। पर ध्यान रखना होगा कि इनकी यह एकता रीतिवादी 'कवि' और 'आचार्य' वाली एकता नहीं है। यह एकता एक नई सामाजिक-सांस्कृतिक जिम्मेदारी के तहत हुई है, इसलिए यहाँ का उद्यम दूसरा है। यहाँ के उद्यम और वहाँ के 'उछलकूद' में जमीन-आसमान का फर्क है। इस उद्यम और 'उछलकूद' में फर्क नहीं करने के चलते ही भारतेन्दुयुगीन आलोचना के बारे में ऐसे विचार आते हैं—''*इस काल के आलोचकों ने कविता, नाटक, उपन्यास आदि पर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं परन्तु आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। इसलिए इस काल की आलोचनात्मक सामग्री में आलोचना की आरंभिक अवस्था मिलती है।*''[1] शांतिप्रकाश वर्मा की शिकायत है कि भारतेन्दुयुगीन आलोचना 'सैद्धांतिक पक्ष' पर ज़्यादा जोर नहीं देती है। इस युग की आलोचना में सिद्धान्त है, पर यहाँ सिद्धान्त की परम्परागत परिभाषा बदल गई है। यहाँ सिद्धान्त अपनी मिट्टी से, अपने लोक से जुड़कर बना है। इसलिए इस युग के आलोचनात्मक सिद्धान्त में शास्त्र और परलोक वाले घुमावदार रास्ते नहीं है, महलों और दरबारों की चकाचौंध नहीं है। अभिजन और 'ग्रामत्व' की पेचीदगी नहीं है, अगर है भी तो पलड़ा 'ग्रामत्व' का भारी है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना साधारणता का सौंदर्य-शास्त्र रचती है। इस युग की आलोचना के सिद्धान्त में सामाजिक सजगता इस कदर समाई हुई है कि 'ऊपर-ऊपर चक्कर लगाने वालों' को भ्रम हो सकता है कि इस युग में 'आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष पर जोर नहीं दिया गया है।' पहले सिद्धान्त थे, सामाजिक सजगता नहीं थी।

भारतेन्दु युग के रचनात्मक और आलोचनात्मक उद्यम को ठीक से नहीं समझने के कारण इस युग की रचना और आलोचना के सम्बन्ध में गलत धारणा बनती है। शांतिप्रकाश वर्मा की दूसरी स्थापना है कि सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक जोर नहीं देने के कारण ही इस युग की 'आलोचनात्मक सामग्री में आलोचना की आरंभिक अवस्था मिलती है'। 'सैद्धांतिक पक्ष' का आशय अगर कोरी शास्त्रीयता है तो भारतेन्दुयुगीन आलोचना को इससे कुछ भी लेना-देना नहीं था। उन्होंने अपने सद्धांतिक पक्ष में मानवीय और सामाजिक

अनुभूतियों के साथ युग की माँग को ध्यान में रखा है और ये ही भारतेन्दुयुगीन रचना और आलोचना के हेतु बने हैं। कभी-कभी इस हेतु की पहचान में गड़बड़ी हो जाती है। इस हेतु की पहचान के लिए भी सामाजिक सजगता जरूरी है। गोविन्द रजनीश लिखते हैं--''*अपनी प्रकृति में आलोचना प्रगतिशील और कलावादी दो रूपों में विभक्त थी। कलावादी समीक्षा का रूप भारतेन्दु के नाटक ग्रंथ में देखा जा सकता है। इसमें भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है।*''[2] भारतेन्दु का 'नाटक अथवा दृश्य काव्य' निबंध 'कलावादी समीक्षा'का प्रतिमान गढ़ता है, यह सही धारणा नहीं है। भारतेन्दु के इस निबंध को 'कलावादी समीक्षा का रूप बताना इसका गला घोंटना है। भारतेन्दु ने संस्कृत या पाश्चात्य शास्त्र से कितना लिया, यह महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है इसमें युगीन आवश्यकता को ध्यान में रखा गया है या नहीं। कहीं से कोई क्या प्रभाव ग्रहण करता है, क्या छोड़ता है उसकी भी एक दृष्टि एवं प्रयोजनीयता होती है। भारतेन्दुयुग निबंध कलावादी कहाँ तक है इसकी चर्चा आगे की जाएगी।

गोविन्द रजनीश ने भारतेन्दु युग में कलावादी समीक्षा का उदाहरण भारतेन्दु के नाटक निबंध के द्वारा दिया, पर उस युग में प्रगतिशील समीक्षा का तत्व किस आलोचक के लेखन में है, उन्होंने इसका उदारहण नहीं दिया। उन्होंने खुद संकेत किया कि इस युग की समीक्षा 'प्रगतिशील और कलावादी दो रूपों में विभक्त थी' इसी धारणा को पुष्ट करते हुए मो० दि० पराड़कर लिखते हैं--''*रीतिकाल की तरह साहित्य का सृजन मनोविनोद की वस्तु न रहा। सुरूचि, नैतिकता एवं बौद्धिकता के प्रति आग्रह यही भारतेन्दुकालीन आलोचना की वस्तु रही है। समसामयिक पुस्तकों की विस्तृत आलोचना होने लगी जैसा कि ''आनंदकादंबिनी'' की 'संयोगिता स्वयंवर' से स्पष्ट है। हाँ, यह बात सही है कि पूर्व के युग के सैद्धांतिक निरूपण की धारा पूर्णतया कुंठित नहीं हो सकी। भारतेन्दुजी तथा बालकृष्ण भट्ट अपनी पत्रिकाओं में नाटक, कविता आदि का सैद्धांतिक निरूपण भी करते थे।*''[3] यहाँ आधी बात सही और आधी बात गलत कही गई है। इस उद्धरण में 'हाँ' के पहल जो बातें कही गई हैं उसका 'हाँ' के बाद कही बातों से बहुत फर्क है या यह कहा जाए कि बिलकुल उलटी है। भारतेन्दु युग में नाटक, कविता आदि का सैद्धांतिक विवेचन हुआ है पर, वह 'पूर्व के युग से' भिन्न है। पहले भारतेन्दु युग को रीतिकाल से अलग बताना और फिर उसे उसी धारा से जोड़ देना क्या संकेत देता है? यहाँ 'हाँ' के बाद असली मकसद जाहिर होता है। प्रो० मैनेजर पांडेय ने अपनी पुस्तमक 'शब्द और कर्म' के पहले अध्याय में 'लेनिनवादी' के साथ 'लेकिनवादी' शब्द चलाया है, इस क्रम में एक 'हाँवादी' को भी जोड़ा जा सकता है।

भारतेन्दु युग में साहित्यिक और सामाजिक सजगता के क्रम में ही आलोचना के मान उभरकर सामने आते हैं। आलोचना के माहौल के निर्माण के क्रम में आलोचना का अर्थ स्पष्ट होता है। इस युग के आलोचक परंपरा से हटकर काम करते हैं, तब यह बताना बहुत जरूरी हो जाता है कि वे जिस परंपरा का निर्माण कर रहे हैं उसका मकसद क्या है उसके हथियार क्या हैं? इसी दबाव के चलते उन्हें अपने काम

के बारे में बताना पड़ता है। वे आलोचना का अर्थ समझाते हैं। प्रेमघन ने लिखा—''*सच्ची समालोचना एक स्वच्छ दर्पण तुल्य है कि जो शृंगार के सजावट को दिखाती और उसके दोषों तथा साहित्य का दुष्टाकृति को बतलाती। यह एक ऐसी कसौटी है कि जिस पर वर्ण सुवर्ण का और खरा-खोटापन झलकता है, यह वह दीपक है कि जिसकी सहायता से अंधेरी कोठरी में धरे अच्छे और निकृष्ट दोनों पदार्थ देख पड़ते अथवा वह उपनेत्र (चश्मा) है कि जिसके द्वारा अति सूक्ष्म पदार्थ हीन दृष्टि वाले जन को भी सहज में सुझाई पड़े।*''[4] प्रेमघन आलोचना को दीपक के रूप में देखते हैं। यहां आलोचना 'अच्छे और निकृष्ट' को देखने और दिखाने की प्रक्रिया है। उनके 'अच्छे और निकृष्ट' देखने और दिखाने का पैमाना क्या है? इस सवाल से मुँह मोड़कर भारतेन्दु युगीन आलोचना में गुण-दोष विवेचन है, इतना कहकर मामला खत्म कर दिया जाता है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना में गुण-दोष विवेचन के पैमाने साहित्यिकता और सिद्धांत तो हैं ही साथ ही नैतिकता, आदर्श और लौकिकता का दबाव भी है और यहाँ मनुष्य और समाज के संदर्भ में साहित्य की उपयोगिता-अनुपयोगिता का सवाल जुड़ा हुआ है। आज आलोचना अगर गुण-दोष विवेचन तक सीमित नहीं है तो इसका कारण है कि रचना की दुनिया भी सीमित नहीं है। यहाँ ढेरों जटिलताओं के साथ ढेरों पेचीदगी आ गई हैं भारतेन्दुयगीन साहित्य और समाज 'अंधेरी कोठरी' में था इसलिए आलोचना के 'दीपक' बनने से काम चल गया। आज का समाज कहाँ है, साहित्य कहाँ है, इसे खोजना इतना आसान नहीं है, इसलिए आज आलोचना का काम भी आसान नहीं रह गया है। आज साहित्य और समाज में जो रिश्ता है वही रिश्ता भारतेन्दु युग में नहीं था।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में गुण-दोष विवेचन है तो इस विवेचन के खतरे भी हैं। आलोचना को इस खतरे से जूझना है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—''*उस भलमनसाहत ही के कारण साहित्य सम्बन्धी विचार के प्रसंग को ''कज्जल फैलाना'' आदि हमारा धर्म जो हमारे विवेचक मित्र इस पर आरोपित करते हैं। उसका अनुमान भी बुरा हम नहीं मानते किन्तु उनके लेख को विशेष आदर भी नहीं दे सकते और यदि किसी का हृदय साहित्य सम्बन्धी निर्मल विचार करने के समर्थ न हो तो सहसा करके अपने हृदय की और समझ को क्षुद्रता प्रकाश करने वाली बातों का उद्घाटन करना भी हम अदूरदर्शिता ही मानते हैं।*''[5] बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' की थी, बदले में उन्हें बहुत जगहों से कटु उक्ति सुनने को मिली थी, उन्हें साहित्य की दुनिया में 'कज्जल' फैलाने वाला बताया गया था। इस खतरे की भारतेन्दुयुगीन आलोचना झेलती है। साहितय और आलोचना की दुनिया 'भलमनसाहत' की दुनिया होती है, विचारों की क्षुद्रता अदूरदर्शिता है। साहित्य के 'निर्मल विचार' को फैलाना है तो यह 'जोखिम' लेना ही होगा।

आलोचना के जोखिम को भारतेन्दु युग के आलोचक स्वीकार करते हैं। इस जोखिम से मुँह नहीं मोड़ते, इससे वे टकराते हैं। साहित्य की धारा बदलनी है, मुख्य उद्देश्य यही है, बदले में गालियाँ की बौछार

मिले तो मिले! हाथी चले बाजार, कुत्ता भूँके हजार! प्रेमघन लिखते हैं–''*.....सच पूछिये तो मासिक पत्र ही का कार्य है कि ऐसी समालोचना लिखे। परन्तु इन समालोचनाओं के लिखने से उसे बहुत कुछ हानि उठानी पड़ी तथा बंगाल के एक महाराज की बनाई एक नष्ट पुस्तक की निष्प्रयोजनता और रचना के दोष दिखलाने से पत्र बंद करने के पश्चात भी गुप्त पत्रों द्वारा उधर थे गालियों के बौछार आते रहे। इसी भाँति स्वर्गीय लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर नाटक' जिसकी अशेष सामयिक समाचार पत्रों ने जो उसके दोष दिखलाए तब भी वही दशा रही।*''[6]

भारतेन्दु युग की आलोचना की दुनिया किसी 'महाराज' या राय बहादुर का ध्यान नहीं रखती, यहां दबाव रचना का है। प्रेमघन ने लिखा–''*इससे कोई सम्बन्ध नहीं कि रचयिता कोई प्रसिद्ध वा बड़ा मनुष्य अथवा कवि नहीं, या कि नाटक बड़ा भारी वा गूढ़ाशय नहीं, किन्तु हम केवल विषय के अनुसार लेख और बिना पक्षपात के शुद्धरीति से उसके गुण और दोष को देखेंगे, और उसी में उचित स्थान पर योग्यायोग्य प्रबन्ध की विवेचना करेंगे, शेष से हमें कुछ मतलब नहीं।*''[7] भारतेन्दु युग के आलोचक राजतंत्र में रहते हुए भी राजतंत्र के दबाव से मुक्त हैं और इससे साहित्य और समाज की मुक्ति के लिए संघर्ष करते हैं। इस युग की रचना में राजभक्ति और देशभक्ति का द्वंद्व भले हो, पर इस युग की आलोचना में यह द्वंद्व नहीं दीखता। क्या कारण है कि भारतेन्दु युग की रचना में कहीं-कहीं देशभक्ति और राजभक्ति का द्वंद्व मिलता है, पर आलोचना में ऐसा नहीं के बराबर हुआ है? इसके और जो भी कारण हों एक कारण तो यह है कि उस युग की रचना अपने समाज और साम्राज्य दोनों से साक्षात्कार करती है। भारतेन्दुयुगीन रचना 'युग के साक्षात्कार' की चुनौती को स्वीकार करती है। इस चुनौती को स्वीकार करने के क्रम में साम्राज्यवाद का दबाव महसूस करने पर पलड़ा राजभक्ति की ओर झुक गया। आलोचना को रचना से जुड़ना है, इसलिए यहाँ साम्राज्यवादी दबाव नहीं के बराबर है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना रचना के धरातल पर राजा-महाराजा, गरीब- भिखारी सबको समान दर्जा देती है तो प्रकारांतर से उस दृष्टि का विरोध भी करती है जो रचना में राजभक्ति को बढ़ावा देती है।

भारतेन्दु युग की आलोचना की निष्पक्षता का और साफ चेहरा बालमुकुन्द गुप्त की दृष्टि में मिलता है। वे लिखते हैं–''*पोथी मित्र की हो या शत्रु की–अपने की हो या बेगाने की, आलोचना उसकी न्याय से होना चाहिए। यह तो कोई बात नहीं कि मित्र हो तो उसकी प्रशंसा की जाए और शत्रु हो तो निंदा। इतनी अनुदारता लेकर साहित्य के मैदान में कभी आगे न बढ़ना चाहिए। ऐसी दुर्दशा हिन्दी में आलोचना की भी है।*''[8] बालकृष्ण भट्ट आलोचना में 'न्याय और सत्य' (नेक सलाह, हिन्दी प्रदीप, 1886) की मांग कर रहे थे। बालमुकुन्द गुप्त इस दृष्टि को और रेखांकित करते हैं। आलोचना में भाई-भतीजावाद नहीं होना चाहिए, इस 'नेक सलाह' में जनवादी धारणा है। रचना का जनवाद जहाँ 'आज के अपेक्षितों और कल के उपेक्षितों' को ध्यान में रखकर पुष्ट होता है वहीं आलोचना का जनवाद रचना में चित्रित 'उपेक्षितों' और 'अपेक्षितों'

के चित्रण में कितनी वास्तविकता है, इसको ध्यान में रखकर अपने सही अर्थ को प्राप्त करता है।

बालमुकुन्द गुप्त आलोचना के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण संकेत देते है कि–*''आलोचक में केवल दूसरों की आलोचना करने का साहस ही नहीं होना चाहिए, वरंच अपनी आलोचना दूसरों से सुनने और उसकी तीव्रता सहने की हिम्मत होनी चाहिए।''*[9] अभी तक आलोचना रचना से संवाद कर रही थी, आलोचक और आलोचक के बीच संवाद की भूमिका स्पष्ट नहीं हुई थी। यूँ बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन अपने स्तर पर यह काम कर रहे थे, पर इस काम को बालमुकुन्द गुप्त ने आगे बढ़ाया। प्रेमघन जब 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना कर रहे थे तब उनके सामने बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' थी, पर प्रेमघन इतना कहते हुए आगे बढ़ गए कि *''नाट्य रचना के बहुतरे दोष 'हिन्दी प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समालोचना' में दिखलाये हैं। अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते।* '[10] पर बालमुकुन्द गुप्त के यहाँ स्थिति बदल जाती है। आलोचक और आलोचक का आमना-सामना 'भाषा की अन्तस्थिरता'[11] निबंध में देखा जा सकता है। आलोचना का काम और जटिल हो जाता है। बालमुकुन्द गुप्त आलोचना के दायित्व में एक और दायित्व को जोड़ते हैं–*''आलोचना की रीति अभी हिन्दी में भली भांति जारी नहीं हुई है और न लोग उसकी आवश्यकता को ही ठीक ठीक समझे हैं। इससे बहुत लोग आलोचना देखकर घबरा जाते हैं और बहुतों को वह बहुत ही अप्रिय लगती हैं। यहाँ तक कि जो लोग स्वयं इस मैदान में कदम बढ़ाते हैं, अपनी आलोचना होते देखकर तुर्शरू हो जाते हैं। इससे हिन्दी में आलोचना करना भिड़ के छत्ते को छेड़ लेना है, छेड़ने वाले को चाहिए कि बहुत-सी भिड़ों के डंक सहने के लिए प्रस्तुत रहे।''*[12] बालमुकुन्द गुप्त आलोचना की जिस 'रीति' को जारी करना चाहते हैं वहाँ आलोचक और आलोचक बीच संवादधर्मिता की जरूरत बताई गई है। सबसे बड़ी बात है कि उन्होंने आलोचक को भाग्य-विधाता होने से बचाया है। उसके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष या की गई स्थापना ही अंतिम स्थापना नहीं है, उसमें अभी बहुत कुछ जुट सकता है, उसमें बहुत-सी कमियाँ हो सकती हैं मतलब उसकी आलोचना हो सकती है। बालमुकुन्द गुप्त आलोचना की दुनिया का फैलाव करते हैं। जिस 'भिड़' के डंक के सहने को बालमुकुन्द गुप्त ने महसूस किया। बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन ने भी महसूस किया था। बालकृणभट्ट लिखते हैं–*''जहाँ कोई एक छोटी सी पुस्तक लिखा कि पत्र संपादकों को 'समालोचनार्थ' टाइटिल पेज पर लिख भेजने लगे। संपादक बेचारे की जान की आफत अगर कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से* **यथार्थ समालोचना** *करना है तो समालोचना यदि एक पन्ने में छपी तो उसकी पर्यालोचना चार पन्ने की होगी, जिसमें सिवाय रड़ही पुतही के साथ बात एक पंक्ति भी न होगी। समालोचक के बताए हुए दोषों पर पुस्तक रचयिता का ध्यान नहीं जाता इसलिए कि वे जो उन दोषों को मान लें तो सर्वशास्त्र विशारद तथा समस्त कला कोविद फिर न समझे जायं।''*[13] बालकृष्ण भट्ट ने रचनाकार की सीमा को दिखाया। वे 'सर्वशास्त्र विशारद तथा समस्त कलाकोविद' नहीं हैं। बदले में 'गालियों के बौछार' मिले या 'रड़ही पुतही' या 'भिड़ों के डंक', आलोचना को अपना काम 'न्याय और

सत्य' से करना होगा। इस न्याय और सत्य की तीव्रता को महसूस करते हुए भारतेन्दुयुगीन आलोचना अपने काम को आगे बढ़ाती है।

भारतेन्दु युग में आलोचना कर्म को नई दिशा देने में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का महत्वपूर्ण योगदान है। वे आलोचना के बुनियादी काम को रेखांकित करते हैं। वे लिखते है–''*समालोचक चाहे कैसा ही विद्वान हो पर यदि उसे मूल ग्रंथ का ज्ञान नहीं है तो उसका समालोचना करना व्यर्थ है।*''[14] गंगा प्रसाद अग्निहोत्री आलोचना के लिए 'मूलग्रंथ के ज्ञान को जरूरी मानते हैं। समालोच्य पुस्तक की समझदारी के बिना आलोचना कर्म अधूरा रहेगा। वे आलोचना को रचना से जोड़ते हैं।

1. (क) साहित्य

भारतेन्दुयुगीन आलोचना अपनी भूमि और भूमिका के निर्माण के साथ साहित्य और साहित्यिक विधाओं के मान खोजने का प्रयत्न करती है। एक तरफ साहित्य और साहित्यिक विधाओं के सम्बन्ध में एक धारणा का विकास होता है, दूसरी तरफ समसामयिक रचनाओं की आलोचना भी होती है। साहित्य के मान का निर्माण भारतेन्दु, प्रेमघन और बालकृष्ण भट्ट करते हैं। इन मानों में जहाँ एक ओर रीतिवादी परंपरा का विरोध है, वहीं यहाँ अपने समय और समाज की जरूरतों का ध्यान में रखा गया है। भारतेन्दु ने अपने निबंध 'दृश्य काव्य अथवा नाटक' (1883) में कहा–''*यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं कि इसका तात्पर्य हृदयंगम करके नाटक रचयिता को सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत भाव में* ***मनुष्य प्रकृति की आलोचना*** *करनी चाहिए।*''[15] यद्यपि भारतेन्दु की यह धारणा नाटक के सम्बन्ध में सामने आई है, पर क्या यह साहित्य की धारणा नहीं है! 'मनुष्य प्रकृति की आलोचना' करने की बात करके भारतेन्दु नाटक को ही नहीं पूरे साहित्य को जन-जीवन से जोड़ देते हैं। इसी धारणा को बालकृष्ण भट्ट 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।'[16] निबंध में स्थापित कर चुके थे। 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' की अगली परिणति साहित्य को 'मनुष्य प्रकृति की आलोचना करनी चाहिए' में होती है।

भारतेन्दु के 'दृश्यकाव्य अथवा नाटक' (1883) निबंध में नाटक के बारे में बात करने के क्रम में साहित्य के बारे में एक दृष्टिकोण सामने आया है। बालकृष्ण भट्ट साहित्य को 'जनसमूह' से जोड़कर देखते हैं, भारतेन्दु इस धारणा को और विस्तार में समझाते हैं। साहित्य को जब 'मानव-प्रकृति की आलोचना करनी है तो सवाल उठता है यह काम कैसे किया जाए? भारतेन्दु लिखते हैं–''मानव प्रकृति की आलोचना करनी हो तो नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिनवास करै। तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुनै तथा नाना प्रकार के ग्रंथ अध्ययन करै, बरंच समय में अश्वरक्षक,गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृत्ति, नीच प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करै। यह न करने से मानव प्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है। उन लोगों के

हृदयस्थ भाव भी उसी रूप में अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत के कतिपय बाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।''[17]

इस लम्बे उद्धरण के बाद ऐसा लगता है जैसे भारतेन्दु बालकृष्ण भट्ट की साहित्य सम्बन्धी धारणा की व्याख्या कर रहे हों। बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को 'जनसमूह ' से जोड़ा, भारतेन्दु इस 'जन समूह' को परिभाषित कर साहित्य सम्बन्धी धारणा का अगला चरण पूरा करते हैं। भारतेन्दु द्वारा परिभाषित 'जनसमूह' उपेक्षितों का समाज है। दरअसल साहित्य का 'कारोबार' उपेक्षितों, साधारण लोगों को साथ लेकर चलने से चलता है, यह 'गुलशन का कारोबार' नहीं है जहाँ किसी के 'चले भी आओ' की जरूरत हो।

'मानव प्रकृति की आलोचना' करना इतना आसान काम नहीं है, इसके लिए अपने-आपको इस मिट्टी से जोड़ना होगा। इस समझदारी के बिना 'नाटक लिखना झख मारना है।' साहित्य के सम्बन्ध में यह समझदारी सामंतवादी और साम्राज्यवादी दृष्टि के विरोध का परिणाम है। सामंतवादी और साम्राज्यवादी दृष्टि का विरोध युगीन आवश्यकता थी। साहित्य को इस युगीन आवश्यकता के अनुरूप बदलना था। प्रेमघन ने लिखा—''*साहित्य का संगठन समय के अनुसार हुआ करता है। उस समय जबके बने वे ग्रंथ हैं इससे अधिक की लोगों को आवश्यकता न थी। रूचि भी ऐसे ही अधिकांश लोगों को हो रही थी, विशेषतः हमारे देश के राजाबाबू और अमीरों का शृंगार ही से काम था, वही उनकी माता थी, उसी की अधिक संख्या कविता में पाई जाती है। आज समय दूसरा है, देश की दुर्दशा ने सबकी मुटाई झाड़ दी है, अक्ल ठिकाने आ गई है, इसी से आज की आवश्यकता को आजकल के सुलेखकों और ग्रंथकारों को पूरी करनी चाहिए, वे ही इसके उत्तरदाता हैं, उन्हें अब अपने साहित्य के शून्य स्थान को भरना चाहिए।*''[18] साहित्य की धारणा को बदलने में युगीन आवश्यकता का बहुत बड़ा योगदान है। साहित्य की रीतिवादी धारणा से मुक्त होकर साहित्य की नई धारणा का विकास हुआ।प्रो० मैनेजर पांडेय ने लिखा है—''*इस काल का साहित्य रीतिकाल की रूढ़ियों से मुक्त होकर समाज और जीवन के यथार्थ से जुड़ा, उसमें यथार्थवाद का विकास हुआ और सामंतविरोधी तथा साम्राज्यवाद विरोधी जन-भावना की अभिव्यक्ति हुई, रीतिकालीन सामंती संस्कृति और रूढ़िबद्ध प्रणाली से नई रचनाशीलता मुक्त हुई तो साहित्य की नई धारणा का भी विकास हुआ।*''[19]

(ख) नाटक

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में नाटक विद्या का बहुत बड़ा योगदान है या यह कहा जाए कि भारतेन्दुयुगीन रचनात्मकता नाटक से भरा-पूरा है। इस युग की आलोचना को खाद-पानी नाटक से ही मिलता है। रचना हो या आलोचना अगर नाटक केन्द्र में है तो इसका मतलब है कि आप 'जनसमूह' के

प्रत्यक्ष हैं, उनकी आशाओं-आकांक्षाओं से सीधे जुड़ रहे हैं। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा–''*जो देश सभ्यता की जितना ही अंतिम सीमा को पहुंचता है वहां उतना ही अधिक नाटक का प्रचार पाया जाता है। श्रव्य और दृश्य दो प्रकार की कविताओं में कहने की अपेक्षा करके दिखा देने का अधिक अवसर होता है।*''[20] 'कहने की अपेक्षा करके दिखा देने' की आकांक्षा भारतेन्दुयुग में नाटक विधा को जन्म देती है क्योंकि यहाँ 'जनसमूह' से जुड़ने का 'अवसर' ज्यादा है।

भारतेन्दुयुग में नाटक जब केन्द्रीय विधा के रूप में स्थापित हुई तब यह जरूरी था कि इस विद्या के बारे में एक निश्चित धारणा का विकास हो। इसकी जरूरत महसूस करते हुए प्रेमघन लिखते हैं–''*हमारे भाषा के नाटक लिखनेवालों के अर्थ भाषा दृश्य काव्य निरूपण और लक्षण तथा भेद रीति नियम और उदाहरण को बतानेवाला कोई साहित्य का ग्रंथ नहीं और जो संस्कृत में 'षष्ठ परिच्छेद''* 'साहित्यदर्पण' में श्री विश्वनाथ कविराज रचित, दशरूपक सूत्र इत्यादि हैं अब उसमें बहुत से गड़बड़ समय और भाषा परिवर्तन के कारण हो गए और कितनी बातों का विरोध पड़ गया, अतएव मुख्य तो इनका आश्रय लेकर और उस समय से इधर के बने नाटक तथा अंग्रेजी, बंगला, इसी रीति से हमारी भाषा के भी (जो हैं) और गुजराती, महाराष्ट्री से भी जाँच कर नए तरह पर खासकर इस नागरी भाषा में कोई ग्रंथ होना अत्यंत आवश्यक है।''[21] प्रेमघन अपनी भाषा में नाट्यशास्त्र बनाने पर जोर देते हैं। उनके अनुसार, संस्कृत में जो शास्त्र हैं उनकी प्रासंगिकता उतनी नहीं रही क्योंकि समय और समाज में बदलाव के साथ-साथ साहित्य की भाषा भी बदल गई है। वे एक ऐसे नाट्यशास्त्र की आवश्यकता महसूस कर रहे थे, जिसमें नयापन हो। इस काम के लिए प्रेमघन मुख्य रूप से संस्कृत और दूसरी भाषाओं से नाट्यदृष्टि लेने के पक्ष में थे।

प्रेमघन जिस नाट्य दृष्टि की जरूरत महसूस कर रहे थे उसमें किन तत्वों का ध्यान रखा जाए इसका खुलासा उन्होंने किया है। वे अपने वांछित नाट्य दृष्टि में नयापन' को यूँ परिभाषित करते हैं–''जानना चाहिए कि नाटक यहाँ तक नहीं है कि जहाँ तक उसमें नकलपन आवै, किन्तु नाटक और अभिनय वह वस्तु है कि जब *देखने वाले को इसका परिज्ञान* न रह जाए कि *हम नाटक देखते हैं वा सत्य लीला,* जिसके शब्द शब्द से रस चूता और पद पद पर आनंद का मजा मिलता जाए और देखने वाले उस रस में रंगकर तनमय दशा को पात्र हो जाएं, अवश्य उत्तम नाटक और अभिनय वही है परंतु तब तक यह कैसे हो सकता है कि जब तक सत्कवि की कविता न हो और चतुर नट नाट्य में प्रवीण न हो, निश्चय जानिये कि दोनों एक एक मिल तब ग्यारह की संख्या प्राप्त करते हैं, केवल बनाने वाला क्या करेगा जब तक खेलने वाला ठीक नहीं *''गुरू क्या करै जब चेला न पढ़ै।''*[22] प्रेमघन नाटक में गहराई और यथार्थ चित्रण के पक्षधर हैं। वे नाटक को अभिनय से जोड़कर देखते हैं। नाटक में यथार्थ चित्रण के लिए जितना 'सतकवि की कविता' जरूरी है उतने ही कुशल और दक्ष कलाकार की। इन दोनों में संतुलन और सहयोग से ही नाटक 'नकलपन' से ऊपर उठकर जीवन का ऐसा चित्र दिखाता है कि 'देखने वालों को इसका परिज्ञान' नहीं होता कि वे

नाटक देख रहे हैं या 'सत्यलीला'।

प्रेमघन मानते हैं कि नाटक में 'सत् कवि की कविता' जरूरी है। प्रहसन के नाम पर भद्दी गाली और अभद्रता का चित्रण प्रहसन का गला घोंटना है। उनकी नाट्यदृष्टि में आदर्श, नैतिकता का दबाव है। वे नाटक में अरूचिकर तत्वों के विरोधी थे। उन्होंने लिखा—*''क्या प्रहसन उस रूपक को कहते हैं कि जिसमें गाली हो? कभी नहीं? ऐसे भद्दे नाटक केवल फाड़कर फेंक देने के सिवा और किसी काम के नहीं, लोग कह बैठेंगे कि न सबकी कविता एक सी और न सबकी बुद्धि एक-सी होती है पर हम इसको कब नहीं मानते, परंतु सत् कवियों का अनुसरण तो करना चाहिए, गालि प्रदान और ग्राम्य, ब्रीड़ा, अश्लील शब्दों के न रखने बिना कौन घाटा था।''*[23] नाटक को सीधे जनता के बीच जाना है, अगर उसमें भद्दे और अरूचिकर तत्वों का समावेश होगा तो इससे जनता की रूचि भी भद्दी होगी, फिर जिस काम के लिए नाटक की जरूरत महसूस हुई थी उसमें बाधा पहुंचेगी। प्रेमघन इसलिए नाटक में अश्लीलता, भद्दापन का विरोध करते हैं।

भारतेन्दु युग में नाटक देश की 'उन्नति' का हेतु बनकर आया है। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु की चिंता गहरी थी। जिस जरूरत को प्रेमघन महसूस कर रहे थे, भारतेन्दु पहले से इस सम्बन्ध में चिंतित और जागरूक थे। उन्होंने अपने 'जातीय संगीत' निबंध में लिखा—*''ऐसे ही और विषय जिसमें देश की उन्नति की सम्भावना हो लिए जायँ। यद्यपि यह एक-एक विषय एक-एक नाटक, उपन्यास वा काव्य आदि के ग्रंथ बनाने के योग्य है और इन पर अलग ग्रंथ बने तो बड़ी ही उत्तम बात है।''*[24] भारतेन्दु अपनी चिंता और युग की चिंता का समाहार अपने निबंध 'नाटक के अथवा दृश्य काव्य' (1883) में करते हैं। उनका यह निबंध आधुनिक नाटक का शास्त्र लेकर उपस्थित होता है। इस शास्त्र का झुकाव यथार्थ और अपने समय की वास्तविकता की ओर ज़्यादा है। भारतेन्दु अपने नाट्यशास्त्र को युगीन आवश्यकता के तहत विकसित कर रहे थे। प्राचीनकाल से ही नाटक विधा जीवित है, पर अब न तो वह समाज रहा और न ही वैसी जरूरत, इसलिए नाटक को युग की रूचि के अनुकूल होना चाहिए। उन्होंने लिखा—*''पुराचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मंडली की जिस प्रकार रूचि थी वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्यकाव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त विनोद कर गए हैं किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रूचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है इससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।''*[25]

भारतेन्दु ने अपनी नाट्यदृष्टि में इस बात को गहराई से रेखांकित किया है कि युग की 'चित्तवृत्ति' के अनुरूप ही नाटक की रचना होनी चाहिए। देश की रीति, नीति जैसी हो उसी के अनुकूल नाटक होना चाहिए। वे लिखते हैं—*''जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति नीति का प्रवाह जिस*

रूप से चलता रहे उस समय में उक्त सहृदयगणके ***अन्त:करण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति*** *इन विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।''*[26] भारतेन्दु ने अपनी नाट्यदृष्टि में दो तत्वों की प्रमुखता दी है—समकालीन जीवन के 'अन्त:करण की वृत्ति' और 'सामाजिक रीति पद्धति' भारतेन्दु के ये दृष्टिकोण आधुनिक हैं। नाटक में समकालीन जीवन तत्व का आग्रह भारतेन्दु की नाट्य दृष्टि की विशेषता है। वे इस दृष्टि को और रेखांकित करते हुए लिखते हैं—*''प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटक की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।''*[27]

नाटक में स्वाभाविकता जरूरी है। भारतेन्दु नाटक को लोक से जोड़कर देखते हैं। अब अलौकिक बातों का चित्रण नाटक में अस्वाभाविकता को जन्म देगी। पहले अलौकिकता में विश्वास था आज इस धारणा का खंडन हो गया है। आज का लोक, लोक को ही महत्वपूर्ण मानता है, परलोक को नहीं, इसलिए नाटकों की रचना में इसका ध्यान देना चाहिए। भारतेन्दु ने लिखा—*''अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मंडली को नितांत अरूचिकर है, इसलिए* ***स्वाभाविक रचना*** *ही इस काल के सभ्यगण की हृदय ग्राहिणी है, इससे अब* ***अलौकिक विषय*** *का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है।''*[28] नाटक में स्वाभाविकता की माँग यथार्थवादी चिंतन का परिणाम है। अपने समय और समाज के प्रति जागरूक होने का परिणाम है। भारतेन्दु परलोक की नहीं, लोक की साधना करते हैं।

भारतेन्दु पुरातन को त्यागने की बात करने हैं, पर वह पुरातन है इसलिए उसकी अवहेलना करें ऐसी बात नहीं, पुरातन में भी समकालीन जीवनवृत्तियों के अनुकूल कुछ बातें होंगी तो उनको अपनाने में कुछ हर्ज नहीं। सवाल पुरातन और नवीन का नहीं सवाल समकालीन जीवन के परिप्रेक्ष्य में नाट्यदृष्टि विकसित करने का है। उन्होंने लिखा—*''नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करै यह आवश्यह नहीं है। क्योंकि जो सब प्राचीन रीति या पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी, वह सब अवश्य ग्रहण होंगी।''*[29] भारतेन्दु की नाट्यदृष्टि में नवीन के प्रति आग्रह है,पर पुरातन के प्रति दुराग्रह नहीं। रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु की नाट्यदृष्टि के बारे में ठीक ही कहा है कि—*''भारतेन्दु ने केवल प्रयोगों के लिए मौलिकता को नहीं अपनाया, न भारतीय संस्कृति के चक्कर में वह कालिदास और भवभूति के आदर्शों को पकड़ बैठे रहे। परम्परा से नाता न तोड़ते हुए उन्होंने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रयोग लिए और केवल इसी परंपरा और प्रयोग के गठबंधन से महत्तम कृतियाँ संभव होती हैं।''*[30]

भारतेन्दु अपने निबंध 'नाटक अथवा दृश्यकाव्य' में नाटकों की रचना-प्रक्रिया का गंभीर एवं महीन विवेचन करते हैं। वे नाटक के विषय वस्तु तक ही सीमित नहीं है,उनका ध्यान नाटक विधा के अनेक तत्वों

पर है। जिस 'परंपरा' और 'प्रयोग' के सहारे भारतेन्दु अपनी नाटक सम्बन्धी समझदारी को आधुनिक संदर्भ में व्याख्यायित करते हैं, उसको सही आयाम संवाद और रंगमंचीय कौशल के द्वारा ही दिया जा सकता है। नाटक में तमाम तरह की आधुनिकता हो और संवाद बेजान एवं रूखे हों तो सब कुछ बेकार है। संवाद नाटक का प्राण होता है। भारतेन्दु नाटकों में 'सम्वाद' के बारे में सजग और जागरूक हैं। उन्होंने लिखा—''*ग्रंथकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रगण की बातचीत रचना करै कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाकपटुता और पंडित का मौनी भाव विडंबना मात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है।*''[31] स्पष्ट है भारतेन्दु नाटक में पात्रानुकूल संवाद की माँग करते हैं। पर पात्र के अनुकूल संवाद होने मात्र से ही काम चलनेवाला नहीं है। पर पात्र के अनुकूल संवाद होने मात्र से ही काम चलने वाला नहीं है। नाटक अंततः कला है और उसे कलात्मक जिम्मेदारी भी निभानी है। नाटक विभिन्न चरित्रों का समुच्चय मात्र नहीं है जहाँ हर पात्र अपने चरित्र के अनुकूल भाषणबाजी करे। कविता और कहानी की अपेक्षा नाटक में कलात्मक 'जोखिम' ज्यादा है। यहाँ बोलना भी है और भाषणबाजी भी न हो दर्शकों को प्रभावित भी करना है और वह प्रपंच न हो। नाटक बोलने वाली विधा है इसलिए यहाँ दायित्व ज्यादा है। इस संदर्भ में भारतेन्दु की दृष्टि साफ है। वे पात्रानुकूल संवाद की जरूरत बताते हैं, पर इस कलात्मक जिम्मेदारी के साथ—''*नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरूतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है* ***थोड़ी सी बात में*** *अधिक भाव की अवतरणा ही नाटक जीवन का महौषध है।*''[32] भारतेन्दु का यह दृष्टिकोण साहित्य के अन्य विधाओं के बारे में भी सच है। 'थोड़ी सी बात में अधिक भाव की अवतरणा' कला की यह महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है।

भारतेन्दु नाटक के उद्देश्य के बारे में सजग है। इस उद्देश्य पर युग का दबाव है। वे लिखते हैं—''*इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य से होते हैं। 1. शृंगार, 2. हास्य 3. कौतुक 4. समाज संस्कार 5. देशवत्सलता।*''[33] आगे वे इन उद्देश्यों की व्याख्या करते हैं—''*समाज संस्कार के नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीति निवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि।* ***किसी प्राचीन कथा भाग का इस बुद्धि से संगठन की देश की उससे कुछ उन्नति हो****.....देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों वा देखनेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है।*''[34] भारतेन्दु ने नाटक के इन उद्देश्यों में एक महत्वपूर्ण संकेत दिया है कि किसी 'प्राचीन कथा भाग' के विषय को बनाकर लिखे गए नाटक की वर्तमान अर्थवत्ता होनी चाहिए। भारतेन्दु नाटक के उद्देश्य के बारे में आगे लिखते हैं—''***आजकल की सभ्यता*** *के अनुसार नाटक*

रचना में उद्देश्यफल उत्तम निकालना बहुत आवश्यक है।....नाटक पढ़ने या देखने से कोई शिक्षा मिले।''[35] उन्होंने नाटक के उद्देश्य को बताया है, पर 'आजकल की सभ्यता' की शर्त पर।

भारतेन्दु ने नाटक में 'रस' का भी ध्यान रखा है। उन्होंने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों की चर्चा की है। 'रसवर्णन' में 'विरोधी रसों' से बचने का सलाह दिया गया है—''*नाटक रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए।''*[36]

नाटक का रंगमंच से गहरा रिश्ता होता हैं नाटक की 'छवि' तो रंगमंच पर 'फलित' होनी है इसलिए रंगमंचीयता का ध्यान रखना जरूरी है इसके बिना नाटक का 'रवि' अस्त ही रहेगा। भारतेन्दु नाटक के मंचन के बारे में उतने ही सचेत हैं। जितने नाटक के और तत्वों के बारे में। उन्होंने 'पात्रों की वेशभूषा, नृत्य, संगीत, जवनिका, आदि पर विचार किया है। पात्रों की वेशभूषा के बारे में वे लिखते हैं—''*नाटकान्तर्गत कौन पात्र वैसा परिच्छद पहिरै यह ग्रन्थकार कर्तृक उल्लिखित नहीं होता न किसी प्राचीन नाटककार ने इसका उल्लेख किया है।''*[37] और फिर आगे वे लिखते हैं—''*वेश और वाणी दोनों ही पात्र की योग्यतानुसार होनी चाहिए।''*[38] इस तरह भारतेन्दु ने नाट्य रचना के सम्बन्ध में हिन्दी आलोचना को बीज तत्व दिया हैं।

भारतेन्दु की नाट्य दृष्टि में पारसी रंगमंच की अवहेलना है। इस अवहेलना के पीछे लोक रूचि और नाटक के बारे में परिष्कृत दृष्टिकोण का दबाव एक महत्वपूर्ण कारण है। वे नाटक को सस्ता मनोरंजन और बाजारूपन की प्रवृत्ति से अलग हटाना चाहते हैं। पारसी रंगमंच का उद्देश्य पैसा कमाना था। उसे 'देशवत्सलता' और 'समाज संस्कार' से कुछ भी लेना-देना नहीं था। इस स्थिति में भारतेन्दु का पारसी रंगमंच से टकराव स्वाभाविक है।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में पारसी रंगमंच के प्रति विरोध का भाव है। यह विरोध सिर्फ विरोध के लिए नहीं है, बल्कि नाटक के बारे में एक धारणा के तहत हुआ है। पारसी रंगमंच का सशक्त विरोध बालकृष्ण भट्ट ने किया है। जिस आधार पर भारतेन्दु ने पारसी रंगमंच का विरोध किया, उससे बालकृष्ण भट्ट सहमत हैं। वे पारसी रंगमंच के बारे में लिखते हैं—''*तमाशा सस्ता होने से शहर के शोहदे आवारा लोग जितने जमा होते थे उतने रईस और भले मानुष नहीं, इन पारसियों ने नाटक को जो सभ्य समाज का परमोत्कृष्ट विनोद था बिगाड़कर भांड, पतुरियों के तमाशों से भी विशेषकर डाला। इनके नाटकों में सिवा इशक और आशिक माशुकी की तरक्की के किसी तरह का* ***सदुपदेश*** *जो नाटकों के अभिनय का मुख्य उद्देश्य है कोई नहीं निकलता। न इनसे हम लोगों की किसी तरह की सहानुभूति है जो हमारा उपकार इन तमाशों से इन्होंने कभी सोचा हो, इनको केवल रूपया कमाने से मतलब है।''*[39] बालकृष्ण भट्ट पारसी रंगमंच का विरोध क्यों करते हैं, स्पष्ट है। नाटक और तमाशा करने में अंतर होता है, भारतेन्दु नाटक से जिस 'उद्देश्यफल' निकालने की बात करते है। बालकृष्ण भट्ट के यहाँ भी यही स्थिति है। वे भी नाटक से

'सदुपदेश' निकालने की सोचते हैं। जो रचना समाज सुधार के बदले समाज बिगाड़ करे उससे उनकी 'सहानुभूति' कैसे हो सकती है? नाटक के बारे में यह समझदारी भारतेन्दु युग की प्रमुख विशेषता है।

भारतेन्दु युग में पारसी रंगमंच के खिलाफ सबसे कड़ा विरोध बालकृष्ण भट्ट दर्ज करते हैं। एक बार जब निश्चित हो गया कि नाटक से लोगों की 'तबियत' बदलनी है और वह तबियत बदलने के बजाय उसको और भ्रष्ट और चौपट करे तो उसका विरोध स्वाभाविक है। पारसी रंगमंच नाटक के नाम पर भद्दा मनोरंजन परोस रही थी। ऐसे में बौखलाहट जायज थी। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—''*नाटकों से हम लोगों का यत्न यह था कि लोगों की तबियत ऐसे बेहूदा खेल तमाशों से रोक सुसभ्य विनोद की ओर रजू करते सो इन पारसियों ने चौपट कर डाला। अब इनकी चमक-दमक के आगे हमारे शिक्षा सम्मिलित नाटक क्यों कर किसी को रूच सकते हैं।*''[40]

बालकृष्ण भट्ट भाषा के आधार पर भी पारसी रंगमंच की आलोचना करते हैं। यहाँ उनकी दृष्टि भारतेन्दु से आगे है। सस्ता मनोरंजन, इश्क और माशुकी, बाजारू प्रवृत्ति आदि पारसी रंगमंच का एक पक्ष है। दूसरे पक्ष का संकेत बालकृष्ण भट्ट करते हैं—''*न इनके नाटक से हमारी भाषा की कुछ तरक्की है। हिन्दी से कुछ सरोकार नहीं, उर्दू में अभिनय करते हैं सो भी भ्रष्ट उर्दू, न जिसका मुहाविरा सही न लब्जों में किसी तरह का मजा, केवल चमक-दमक और नाचरंग से लोगों को मोह लेते हैं।*''[41] हिन्दी गद्य का निर्माण और उसका प्रचार-प्रसार भारतेन्दु युग की केन्द्रीय जरूरतों में से एक थी। बालकृष्ण नाटक के माध्यम से 'भाषा की भी तरक्की' की सोचते हैं। पारसी रंगमंच इस सोच में बाधा पहुँचा रही थी। वे उर्दू के चलते पारसी रंगमंच का विरोध करते हैं यह हल्का कारण है, मुख्य कारण है उर्दू में भी भ्रष्ट उर्दू का प्रयोग।

भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट जहाँ पारसी रंगमंच का जबर्दस्त विरोध करते हैं। वही प्रेमघन के यहाँ स्थिति दूसरी है। वे पारसी रंगमंच के बारे में लिखते हैं—''*बंगालियों के नाटक और उनके विषय भाव तथा कविता उत्तमोत्तम, नृत्य वाद्य नाट्य भी अच्छा, और भी समान अच्छेई है परंतु तो भी पारसियों से उत्तम नहीं। इनके परदे और नाट्यालय के सजावट के साज, सुन्दर और सजीले, अभिनय के चारों गुण से युक्त पात्र, और उनकी समस्त प्रकार की बनक, हाव, भाव, कटाक्ष, कहाँ तक गिनावैं सभी अच्छा है। केवल भाषा अच्छी तरह शुद्ध और साफ नहीं है।*''[42] प्रेमघन पारसी रंगमंच पर मोहित हैं। जिस पारसी रंगमंच में भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट ने सस्ता मनोरंजन, बाजारूपन और भद्दापन पाया था, जहाँ न देश की उन्नति से सरोकार है और न ही समाज से कोई मतलब है, नाटक को नाटक नहीं 'भांड पतुरियों' का नाच बना देना है, उसकी प्रशंसा प्रेमघन मुक्तकंठ से करते हैं। तमाम तरह की चमक-दमक और सजावट 'समाज संस्कार' और 'सुसभ्य विनोद' में रत्ती भर भी सहायता नहीं पहुँचाता था इसलिए वे तकनीक, सजावट या और कुछ बेकार हैं। प्रेमघन पारसी थिएटर पर मोहित होने के बावजूद इसकी आलोचना करते हैं। वे इस बात को

स्वीकार करते हैं कि पारसी थिएटर नाटक और रंगमंच के विकास में बाधक है। उन्होंने लिखा—''*जब यहाँ के अर्द्धशिक्षितों को कुछ अंड बंड नाटकों के देखने और कुछ यों त्यों के अभिनय अर्थात् नाटकों के खेल देखने में आए, तब कुछ उमंग का रंग मन पर चढ़ा, खेलने वाले जो विचारै निरे उत्साही ओर मन के बहलाव या महज शौक से इस काम को उठाए थे, कुछ-कुछ हर्षित और उत्साहित हुए कि उसी समय पारसी नाट्य मंडलियों का यहाँ आ जाना मानो इसके काल का आ जाना हुआ, देखने वालों को तो एकदम से देखने का मजा, इनकी गौरव, इज्जत और मान अर्थात् आदर हुआ, पर लेखक और अभिनयकर्ताओं के उत्साह को तो यह कुल्हाड़ी हो गया, इनके आने के इधर न कोई नाटक बना देखने में आया न कहीं अभिनय होते सुना.....।*''[43]

भारतेन्दु ने पारसी रंगमंच का विरोध किया है, पर उन्होंने इसके उपयोगी चीजों को अपनी रंगदृष्टि में स्थान दिया है। इसकी चर्चा ओम अवस्थी ने अपने निबंध 'नाटककार भारतेन्दु : रंगमंचीय अभिज्ञा और प्रतिज्ञा' में की है। वे लिखते हैं—''*भारतेन्दु ने भटके हुए बहुसंख्यक भारतीय दर्शकों को अपने आर्य शिष्ट रंगमंच की ओर खींचने के लिए पारसी थिएटर की प्रस्तुति शैली के कुछ लोकप्रिय तत्वों को परिष्कृत रूप में अपने साहित्यिक नाटकों में प्रयोग के धरातल पर समन्वित किया। पारसी रंगमंच की तरह उन्होंने भी अभिनेता को आत्यन्तिक केन्द्र में रखा, लेकिन उसके उच्चरित कार्य-व्यापार को* ***निरर्थक तुकबंदी और कृत्रिमता*** *से मुक्त किया, उसकी देखने-चलने-मुड़ने आदि की हरकतों को मंच के आवश्यक नियमों से अनुशासित किया और उसे नाटक के पात्रों से विचलन की मनमानी छूट न देकर उनको कलात्मक पुनस्सृष्टि का मार्ग भी दिखाया.....।*''[44] भारतेन्दु ने अपनी जरूरतों के हिसाब से पारसी रंगमंच से प्रभाव ग्रहण किया था, पर उसका नकल नहीं किया और न ही अंधभक्ति की। प्रेमघन पारसी रंगमंच पर फिदा हैं। यह उनकी प्रतिगामी दृष्टि है। जहां वे प्रहसन के प्रसंग में कहते हैं कि 'रचनाकार को 'सत् कवियों का अनुकरण करना चाहिए' वहीं पारसी रंगमंच के सम्बन्ध में वे अपनी इस धारणा को भूल जाते हैं। क्या पारसी रंगमंच वाले 'सत् कवियों का अनुकरण' कर रहे थे? सत् कवियों के अनुकरण का मतलब दुष्यंत का 'खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटकर' नाचना नहीं है और न ही 'पतरी कमर बलखाय' गाना है।

(ग) कविता

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में नाटक का केन्द्रीय स्थान है, पर यहाँ कविता उपन्यास सम्बन्धी मान स्थापित करने की कोशिश की गई है। कविता के बारे में गंभीर विवेचन बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन ने की है। बालकृष्ण भट्ट के 'सच्ची कविता' निबंध (हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, 1886) में पहली बार कविता के बारे में परंपरागत मूल्यों से हटकर आधुनिक दृष्टि से विचार किया गया है। जिस तरह भारतेन्दु का निबंध 'नाटक अथवा दृश्यकाव्य' (1883) आधुनिक नाटक का पहला शास्त्र है उसी प्रकार बालकृष्ण भट्ट का 'सच्ची

कविता' निबंध कविता के बारे में आधुनिक दृष्टि का प्रतिपादन करता है। प्रेमघन का 'कविता' (आनंदकादंबनी, अगहन-पूष-माघ 1902) निबंध बालकृष्ण भट्ट के कविता सम्बन्धी चिंतन की अगली कड़ी है।

बालकृष्ण भट्ट ने कविता के बारे में कहा—*''कविता को हम मनुष्य के हृदयगत भाव का सत्त-एसन्स मानते हैं।''*[45] कविता मनुष्य के हृदय से जुड़ी हुई चीज है, वह 'मनुष्य के हृदयगत भाव का सत्त-एसन्स' है, कविता के बारे में यह विचार नया है। प्रेमघन कविता का दायित्व और बढ़ाते हैं। वे लिखते हैं—*''सच्ची कविता तो मनुष्य के हृदय ग्रंथि को खोलती है और उसे उस प्रकार का आश्वासन देने में समर्थ होती है जो और किसी भांति संभव नहीं।''*[46] सच्ची कविता वही है जो मनुष्य के हृदयग्रंथि को खोले, प्रेमघन का यह विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिस 'हृदय ग्रंथि' को खोलने की बात प्रेमघन ने की, वही शुक्ल जी के यहाँ 'हृदय की मुक्तावस्था' हो जाता है। कविता का काम मनुष्य को 'आश्वासन' देना है, पर यह आश्वासन अन्य आश्वासनों से भिन्न है, ऐसा सिर्फ कविता ही कर सकती है और तब कविता की महत्ता समझ में आती है। यह 'आश्वासन' मनुष्य के हृदय के विस्तार से जुड़ा हुआ है। भौतिक जगत से अनेक 'आश्वासन' मिल सकते हैं पर वे 'हृदयग्रंथि' को खोल नहीं सकते। यह काम कविता ही कर सकती है। कविता की समझदारी 'मनुष्य के हृदयगत भाव का सत्त-एसन्स' से शुरू होती है, आगे इस समझदारी का क्रमिक विकास होता है।

प्रेमघन ने अपने 'कविता' निबंध में कविता पर गंभीरता से विचार किया है। वे लिखते हैं—*''अच्छी कविता को हम एक परमसुन्दरी, गुणवती, सरस स्वभाववाली नायिका-सी कहेंगे, जिसके समीप मनुष्य बैठकर तत्क्षण से* ***लोक विस्मरण*** *की प्रायः उन्हीं के भावों के सराहने में निमग्न हो अपनी आपत्ति विपत्ति मात्र को भूल जाता है। अथवा यह कहेंगे कि कविता भूलोक की एक आरसी के समान है अथवा मनुष्य के हृदय कपट को खोलने वाली ताली है।''*[47] कविता के बारे में यह दृष्टिकोण कविता की परंपरागत धारणा से भिन्न है। कविता को 'परमसुन्दरी' 'गुणवती' 'सरस स्वभाव वाली' नायिका के समान होनी चाहिए। उसका साहचर्य 'लोक विस्मरण' की स्थिति पैदा कर देता है, यहाँ 'लोक विस्मरण' का मतलब लोक को भूलना नहीं है बल्कि दुनियावी झंझटों से ऊपर उठना है। कविता तो 'भूलोक की आरसी है' आरसी सब कुछ दिखाता है, कुछ छिपाता नहीं। जहाँ कविता में डूबना मेरापन को भूलना है, उदात्तीकरण की स्थिति में आना है। वहीं इससे भूलोक को देखना भी है। प्रेमघन के यहाँ कविता सिर्फ अपने में डूबकर परलोक की साधना नहीं है, बल्कि वह लोक से जुड़ा है।

बालकृष्ण भट्ट का निबंध 'सच्ची कविता' (अक्टूबर, 1886) हिन्दी कविता पर आधुनिक ढंग से सोचा गया पहला प्रयास है इसलिए यहाँ रीतिवाद का विरोध, खरा-खोटा का मामला, 'स्वाभाविक

'बनावट' का विचार केन्द्र में है। उन्हें एक परम्परा तोड़नी है एवं दूसरी बनानी भी है। कविता को असरदार बनानी है, उसे पाठक से जोड़ना है तो इसके लिए शर्त है कि वह सच्ची हो, वह 'झरना' के समान हो जहाँ स्वाभाविकता होती है, यह बालकृष्ण भट्ट के यहाँ चिंतन का विषय है। चूँकि मामला स्वाभाविकता का है इसलिए उस स्वाभाविकता की खोज भी करनी है और इस खोज में वे ग्रामीण कविता की ओर जाते हैं जहाँ बनावटीपन नहीं है, सुसंस्कृत कविता का 'जहर' नहीं है। कविता अगर 'मनुष्य के हृदयगत भावों का सत्त-एसन्स है' तो उसे तो स्वाभाविक होना ही पड़ेगा। बालकृष्ण भट्ट की कविता सम्बन्धी मुख्य चिंता यही है। प्रेमघन के यहाँ चिंतन का विषय दूसरा है। यहाँ कविता 'मनुष्य के हृदयकपाट को खोलने वाली ताली है' उनका चिंतन कविता और उसके भावों पर केन्द्रित है। यहाँ कविता की एक आदर्श स्थिति है। प्रेमघन के चिंतन के केन्द्र में स्वाभाविक बनावट का मामला नहीं है वह पेचीदगी नहीं है जिससे बालकृष्ण भट्ट टकराते हैं।

प्रेमघन ने अपनी कविता सम्बन्धी चिन्तन में कविता की विशिष्टताओं पर बात करते हैं, पर कविता विशिष्ट कैसे होती है यह उनके चिंतन के केन्द्र में नहीं है। वे लिखते हैं—''*यद्यपि ब्रह्मा के चार मुख हैं पर एक मुखवाले कवि रचित काव्यरूपी परम अद्भुत लोक को निरख लज्जा और ईर्ष्या के वश हो उन्हें मलीन वदन होना ही पड़ता होगा? वायों समझिए कि ब्रह्मा की सृष्टि में चाहे कुछ न्यूनता क्यों न हो पर इनकी सृष्टि में न्यूनता का क्या काम है। क्योंकि यहाँ तो जब भी चाहा बरसात बुला बादलों की घेर-घार को गगनमंडल में दिखला दिया, अथवा चाहो तो बसंत के आह्वान से सब पुष्पों को अनिद्रित कर दिया।*''[48] कवि की सृष्टि ईश्वर की सृष्टि से ऊपर है, यहाँ किसी चीज की न्यूनता हो ही नहीं सकती, प्रेमघन जब यह कहते हैं तो इसका मतलब है कि कवि दुनिया बनानेवाले से ज्यादा दुनिया को समझता है। उन्होंने एक और महत्वपूर्ण संकेत दिया है कविता में कल्पना का महत्व है। इसके सहारे वह कभी बारिश करवा सकता है या कभी 'बसंत' ला सकता है। इसको और विस्तार हुए वे लिखते हैं—'बहुतेरी ऐसी बातें भी हैं जिन्हें हम देख वा समझ न सकते, यदि कवियों के साहित्य का चश्मा आँख में न लगाए होते। यों ही जहाँ शब्द की सामर्थ्य नहीं है, वहाँ वे और ही उपाय अवलंबन करते और लक्षण, ध्वनि, उपमा और उत्प्रेक्षा की सहायता लेते हैं और इससे वे आपको उसके सौन्दर्य के विषय में बहुत कुछ स्वयं सौंपने को भी छोड़ देते हैं।''[49] प्रेमघन कविता की महत्ता स्थापित करते हैं। कविता की पहुँच वहाँ होती है जहाँ हमारी पहुँच नहीं होती। कविता उस अछूते लोक का दर्शन कराती है जो इसी लोक में था, पर मनुष्य उसे देख नहीं पाता। कवि सौन्दर्य की वह दुनिया सिरजता है जो मनुष्य की पकड़ के बाहर है, पर कवि ही उससे मनुष्य को साक्षात्कार कराता है। इसके लिए कवि सिर्फ भाव पर ही टिका नहीं रहता बल्कि उसे 'उपमा', 'उत्प्रेक्षा', 'ध्वनि', 'लक्षणा' आदि का सहारा लेना पड़ता है। इस तरह प्रेमघन कविता की महत्ता को बताते हैं, पर दूसरी जगह उन्होंने जिस मान्यता की स्थापना की है वह कविता नहीं राजदरबार की महत्ता को

बतलाती है। प्रेमघन ने लिखा–''*विद्या प्रेमी राजा होने से विद्या का प्रचार और साहित्य की पुष्टि होती ही है।*''[50] विद्या प्रेमी राजा के होने से साहित्य का प्रचार-प्रसार बढ़ता है, यह सही है, पर क्या राज्याश्रय ही कविता का हेतु होता है? प्रेमघन का यह विचार गौरतलब है–''*वास्तव में राजा का सत्कार कवि के उत्साह का हेतु होता ही है। यदि विक्रम या भोज न होते, कालिदासादि को काव्य में यह अमृत न टपकता। यदि महमूद गजनबी प्रत्येक शेर के लिए एक अशर्फी फिरदौसी को देने को न कहता, तो शाहनामा ग्रंथ न बनता। महाराज जयसिंह से प्रत्येक दोहे के अर्थ एक-एक सहस्र मुद्रा पाने की आशा न होती, तो बिहारी के इतने दोहों में यह स्वारस्य सर्वथा दुर्लभ होता। यदि एक कवित्त को चौंसठ बार सुनकर शिवाजी भूषण को चौंसठ हाथी पर चौंसठ तोड़े रुपये के धरकर न देता, तो भूषण की कविता में यह ओज कब आता?*''[51] प्रेमघन कविता के लिए राज्याश्रय की महत्ता ही स्वीकार नहीं करते, बल्कि उसे ही कविता का हेतु मानते हैं। प्रकारांतर से वे दरबारी काव्य-परम्परा का समर्थन करते हैं। वे पूरे भक्तिकाल को भूल जाते हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी या मीरा को कौन-सा दरबारी सहयोग मिला था? कविता का मतलब अगर चमत्कारिता, अतिशय श्रृंगारिकता, भोग-विलास है तो ऐसी कविता का हेतु दरबार हो सकता है। प्रेमघन ने खुद लिखा कि–''*सच्ची कविता मनुष्य के हृदयग्रंथि को खोलती है।*''[52] पर क्या उसकी निष्पत्ति राज्याश्रय की स्वीकृति में होती है? प्रेमघन अपनी कविता सम्बन्धी धारणा को खुद तोड़-मरोड़ देते हैं।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में कविता पर बहस कविता के अनेक आयाम को खोलती है। वह 'चमत्कार' की दुनिया से बाहर निकलने का प्रयास करती है। कविता सम्बन्धी अवधारणा पर विचार के क्रम में एक महत्वपूर्ण निबंध है–'कवि की प्रतिभा'। इस निबंध को पुरुषोत्तमदास टंडन ने लिखा था। यह निबंध 'अगमसरन' के नाम से 'हिन्दी प्रदीप' मई, 1899 में छपा था। राजेन्द्र शर्मा के अनुसार, 'अगम सरन' नाम से पुरुषोत्तमदास टंडन लिखा करते थे। उनके अनुसार यह निबंध पुरुषोत्तमदास टंडन का है। राजेन्द्र शर्मा ने पुरुषोत्तमदास टंडन की रचनाओं की सूची में इस निबंध को शामिल किया है। टंडनजी के उक्त निबंध से कविता सम्बन्धी गंभीर मान उद्घाटित होते हैं। वे लिखते हैं–''*कवि संसार को एक दर्पण बना लेता है जिसमें वह सब पदार्थों को जैसा और जिस तरह ईश्वर ने उन्हें सृजा है उनको उसी पर भलिभांत देखता है। कवि का यह चिह्न है कि वह कोई ऐसी बात बतलावे जिसको दूसरे ने पहले कभी न देखा हो।*''[53] प्रेमघन के यहाँ कवि ईश्वर से ज़्यादा दुनिया को जानता है, ईश्वर के कामों में 'न्यूनता' हो सकती है, कवि के काम में नहीं। पुरुषोत्तमदास के यहां स्थिति दूसरी है। यहाँ किसका काम न्यून किसका काम बड़ा इसकी चिंता नहीं है। यहां चिंता है तो इस बात कि उनका ईश्वर की रचना को हूबहू उसी तरह दिखा देना, अर्थात् पुनःसृजन करना, यह कम चुनौती का काम नहीं है। आगे जब वे कहते हैं कि–'वह कोई ऐसी बात बतलावे जिसको किसी दूसरे ने पहले कभी न देखा हो।'' तो वे हर कवि की अपनी-अपनी विशिष्टता को रेखांकित करते हैं। कवि को पुनःसृजन भी करना है और उसमें अलग-अलग कलात्मक विशिष्टता भी होनी

चाहिए। पहली शर्त्त पुनः सृजन दूसरी कलात्मक विशिष्टता, इस तरह पुरुषोत्तम दास टंडन कविता सम्बन्धी धारणा का विस्तार करते हैं। वे कवि के दायित्व को और बढ़ाते हुए लिखते हैं–''*ईश्वर के रचे पदार्थों में ईश्वरता का निदर्शन करा देना केवल कवि ही ही का काम है।*''[54] संसार में ईश्वरता का 'निदर्शन' सिर्फ कवि ही करा सकता है। ईश्वर की बनाई दुनिया है, इसमें ईश्वरता प्रकट करना मामूली काम नहीं है।

अपनी कविता सम्बन्धी मान्यता में पुरुषोत्तम दास टंडन कविता की महत्ता रेखांकित करते हैं। कविता के द्वारा किया गया काम अन्य कामों से भिन्न है और विशिष्ट है। वे लिखते हैं–''*केवल मात्राओं को गिन-गिन तुक में तुक बैठा देना कविता नहीं है। कवि का काम बहुत बड़ा है। संसार में सबसे कठिन काम कवि का है। प्रत्येक विषय के बड़े-बड़े विद्वान अपने जन्मग्रहण से संसार को कृतार्थ कर गए हैं किन्तु उनकी बुद्धि की सीमा किसी विशेष वस्तु तक है जैसे वैज्ञानिक का काम भौतिक पदार्थों के गुण और उनके काम की आलोचना और दो भिन्न पदार्थों के मिल गये से तीसरे पदार्थ के उत्पन्न होने के कारण का जानना है। ज्योतिषी का काम ग्रहों की चाल.....पर कवि का काम इन सबों से कठिन है। संसार की यावत वस्तु का पूर्ण परिज्ञान और सृष्टि की अनेक घटनाओं की यथोचित छानबीन उनकी ठीक ठीक समालोचना करने का है जो किसी तरह सहज नहीं है।*''[55] यहाँ पुरुषोत्तम दास टंडन ने कवि को अन्य लोगों से अलग किया है। अन्य विषय के जानकार अपने काम तक सीमित होते और उनका काम यांत्रिकता, नापजोख कर टिका होता, 'हाँ बाहरी उपकरण काम में लाए जाते, पर वहाँ भाव जगत को काम नहीं होता। कवि को पूरे संसार को जानना होता है, यहाँ वे छानबीन और अन्य विषयों के जानकार के द्वारा की गई छानबीन में अंतर होता है। टंडन जी ने इस बात का विरोध किया है कि केवल तुकबंदी करना कविता है। तुकबंदी से 'उछलकूद' हो सकती है कविता नहीं। जहाँ कवि का काम बहुत बड़ा है वहाँ कविता चमत्कार, तुकबंदी नहीं हो सकती। भारतेन्दुयुगीन आलोचना में कविता में यांत्रिकता का विरोध हुआ है, यह विरोध युगीन जरूरत है।

हिन्दी कविता को नई दिशा देने का काम यहाँ हुआ है। रचना के स्तर पर यह काम ठीक से नहीं हो पाया पर आलोचना के स्तर पर यह काम जोरदार तरीके से हुआ है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना में कविता संबंधी धारणा के निर्माण में रीतिवाद का विरोध, अतिशय शृंगारिकता की अवहेलना केन्द्रीय भूमिका निभाते हैं। कविता की रीतिवादी परंपरा कविता के भावभूमि पर कम, बाहरी 'नापजोख' पर ज़्यादा ध्यान रखती थी। इसमें सामंती और दरबारी मानसिकता की अभिव्यक्ति थी। भारतेन्दु युग में रीतिवादी कविता की परंपरा का विरोध सिर्फ विरोध के लिए नहीं हुआ है, बल्कि एक सुनिश्चित दृष्टिकोण के तहत ऐसा हुआ है। बालकृष्ण भट्ट, श्रीधर पाठक के यहाँ कविता की रीतिवादिता और शृंगारिकता का जबर्दस्त विरोध है। श्रीधर पाठक ने लिखा–''*शृंगार रस प्रधान काव्य किस्से कहानियाँ चुटकुले इत्यादि से तो हिन्दी सदा से पूर्ण चली आई फिर शृंगार रस से तो यह इतनी लदी हुई है कि अब ऐसी कविता और लेख से घिन उपजती है पर फिर भी जो कोई अपनी योग्यता प्रकट किया चाहते हैं तो उसी बंशीवाले और बरसानेवाले का आश्रय ढूँढ़ते*

हैं जिस क्षेत्र को सूर, तुलसी आदि कविवरों ने बड़े परिश्रम जोत बो और सींचकर एक बार उत्तम उत्तम फूलों से खचाखच परिपूर्ण कर दिया है उसी खेत में आजकल के हिन्दी लेखक बड़े अभिमान के साथ अपनी घिसी हुई बुद्धि के कुंठित यंत्र को ले जाते तनिक नहीं सकुचाते।''[56] श्रीधर पाठक कविता में कुछ नया चाहते हैं, परंपरा से आती कविता की मान्यता का वे विरोधे करते हैं।

भारतेन्दु युग में शृंगारिकता का विरोध होना वाजिब है। यहाँ कविता का आशय कुछ और है। शृंगारिकता के विरोध के चलते श्रीधर पाठक ने गलत निष्कर्ष भी निकाला है कि सूर, तुलसी ने जितना काम कर दिया वही महत्वपूर्ण है उससे आगे कुछ नहीं हो सकता। बालकृष्ण भट्ट के यहाँ भी यही स्थिति है। दरअसल भारतेन्दु युग गद्य के दबाव का युग है। गद्य के विकास एवं विस्तार की चिंता ही कविता सम्बन्धी इस दृष्टिकोण के लिए आधार देती है कि सूर, तुलसी से आगे कुछ हो ही नहीं सकता। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा–*''कविता के जिस मार्ग पर सूर, तुलसी, भूषण, मतिराम, बिहारी, पद्माकर से आरंभ कर बाबू हरिश्चन्द्र तक चल चुके हैं उसी को हम पद्य या उत्तम काव्य कहेंगे। क्योंकि हमारी समझ से जगन्नाथ पंडित राज से संस्कृत काव्य का छोर हो गया और बाबू हरिश्चन्द्र के उपरांत भाषा की कविता अस्ताचल की पछार गई।''*[57] श्रीधर पाठक और बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि में समानता है। बालकृष्ण भट्ट मानकर चलते हैं कि कविता के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगे कुछ भी नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि वे कविता का महत्व नहीं समझते। वे युग की जरूरत के अनुरूप कविता से ज्यादा गद्य की महत्ता समझते हैं। साहित्य का दायित्व 'जनसमूह' से जुड़ना है और यह काम गद्य से ज़्यादा आसानी से हो सकता है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा–*''हमारी गद्य भाषा जहाँ तक और जैसे बढ़े सब हमें स्वीकृत है।'*[58] इसी बात को श्रीधर पाठक ने कहा–*''हमारा हिन्दी प्राचीन रीति के शृंगार की कविता की भूखी नहीं है वरन् इस नवीन काल में नवीन रीति के विविध गद्य रूपी अमृत की प्यासी है।''*[59]

कविता में सिर्फ शृंगार रस से काम नहीं चल सकता और रसों की भी जरूरत है। श्रीधर पाठक ने स्पष्ट रूप से कहा कि–''हम हिन्दी काव्यों के विरुद्ध नहीं हैं पर शृंगार रस इस भाषा में बहुतात से हैं अन्य रसों की अलबत्ता बहुत कमी है।''[60] स्पष्ट है कि श्रीधर पाठक शृंगारिकता को पसंद नहीं करते, पर कविता से उनका लगाव है। भारतेन्दु युग में कविता में शृंगारिकता का खूब विरोध हुआ इस पर आक्षेप करते हुए प्रेमघन ने लिखा–*''कुछ लोग यह भी कहते हैं कि पुराने ग्रंथ केवल कविता सम्बन्धी हैं और उनमें प्रायः शृंगार रस ही भरा पूरा है। हम पूछते हैं कि क्या कविता कोई काम की वस्तु नहीं है? क्या कोई ऐसी भाषा संसार में है जिसे अपनी कविता पर अभिमान न हो? भाषा का मुख्यरूप तो कविता ही दिखलाती है।.. ..कविता ही भाषा के आकाश का सूर्य है।''*[61] कविता के सम्बन्ध में प्रेमघन की यह धारणा निश्चय ही महत्वपूर्ण है। पर बालकृष्ण भट्ट या श्रीधर पाठक की धारणा से कविता का विरोध झलकता है दरअसल वह कविता का विरोध नहीं है, कविता में शृंगारिकता का विरोध है और शृंगारिकता का विरोध इसलिए है

कि कविता को नए ढर्रे पर ले जाना है। युग की जरूरत के अनुसार सिर्फ शृंगार से काम नहीं चल सकता। कविता 'भाषा के आकाश का सूर्य है' पर इसके लिए उसे बहुत कुछ करना होगा, उसे शृंगार की दुनिया से बाहर निकलना होगा। बालकृष्ण भट्ट या श्रीधर पाठक में गद्य के प्रति झुकाव ज्यादा है उन्हें हिन्दी गद्य बनाने की चिंता है, यही केन्द्रीय कारण है जिसके चलते ये दोनों कविता के प्रति अवहेलना का भाव दिखाते हैं, पर यह अवहेलना नहीं है, बल्कि युग के अनुसार साहित्य की धारा दूसरी ओर मोड़ने की कोशिश है।

भारतेन्दु युग में कविता सम्बन्धी मान्यता पर भारतेन्दु ने कम विचार किया है। हालाँकि कविता में स्वाभावोक्ति को पसंद करते हैं। उन्होंने अपने निबंध 'हिन्दी कविता' में रीतिकालीन कविता के बारे में कहा है कि—*''इस समय के कवियों का चित्त स्वाभावोक्ति पर तनिक नहीं जाता था। केवल बड़े-बड़े शब्दाडम्बर करते थे.....''*[62] कविता में रीतिवादी प्रवृत्ति को भारतेन्दु पसंद नहीं करते थे। उन्होंने लिखा—*''कविता में अत्युक्ति और निरा भाटपन न हो यों तो बिना कुछ नमक-मिर्च लगाए कविता होती ही नहीं।''*[63] भारतेन्दु ने प्रिन्स ऑफ वेल्स के आगमन पर उनके लिए सब भाषा के कवियों से कविता लिखने का आमंत्रण दिया था, इसी संदर्भ में उन्होंने उक्त बात कही थी कि कविता में 'निरा भाटपन' या 'अत्युक्ति' न हो। साथ में भारतेन्दु यह स्वीकार करते हैं कि कविता में कुछ जोड़ा और कुछ घटाया तो जाता ही है।

कविता के बारे में भारतेन्दु की धारणा उनके निबंध 'जातीय संगीत' में उभरकर सामने आई है। यहाँ वे कविता को संगीत से जोड़ते हैं। उन्होंने लिखा—*''यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदैशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता।''*[64] भारतेन्दु मानते हैं कि कविता में संगीत का महत्व ज्यादा होता है, इसके द्वारा कविता की प्रभाव-ग्रहण की क्षमता बढ़ जाती है, इसलिए वे कविता को संगीत से जोड़ते हैं। वे कविता को जन-जन में फैलाना चाहते हैं क्योंकि इसके द्वारा जनता की चेतना बदली जा सकती है। भारतेन्दु जिस तरह नाटक को जन साधारण से जोड़ना चाहते हैं उसी तरह कविता को भी साधारण लोगों में फैलाना चाहते हैं। 'साधारण शिक्षा' जो काम नहीं कर सकती, वह काम कविता कर सकती है। सबसे बड़ी बात है कि भारतेन्दु ग्रामगीत की महत्ता स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा—*''गीत बहुत छोटे-छोटे छंदों में और साधारण भाषा में बने वरंच* ***गवाँरी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा*** *में विशष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवाँ, अद्धा, चेती, होली, सांझी, लंबे, लावनी, जौते के गीत, बिरहा, चनैवी, गजल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुंदलेखंड में बुंदेलखंडी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन देशों में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।''*[65] भारतेन्दु पहले कविता को संगीत से जोड़ते हैं और फिर संगीत में ग्रामगीत का आदर्श रखते हैं। ग्रामगीत क्यों? क्योंकि इसमें मिट्टी की सुगंध है, इसी के द्वारा जन-जन में पैठ बनाया जा सकता है यहां शास्त्रीय संगीत से काम चलने

वाला नहीं है। जनता से जुड़ना है तो जनसाधरण की भाषा उसकी रूचि को ध्यान में रखकर ही उससे जुड़ा जा सकता है। इस तरह भारतेन्दु कविता को जनसाधारण की दुनिया में ले जाना चाहते हैं। बालकृष्ण भट्ट के यहाँ भी लगभग यही स्थिति है। वे ग्रामीण कविताओं में रमते हैं क्योंकि यहाँ 'सच्ची कविता' का 'लसरा' पाया जाता है। उन्होंने ग्रामगीतों के बारे में लिखा–*''अब हमारे पाठक जन पूछ सकते हैं कि आपने उसमें कौन सा गुण पाया जो उस पर इतने लटटू हो रहे हैं? माना वे सर्वथा दूषित और कविता के गुणों से वंचित हैं पर उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया जाता है अर्थात् उनमें चित्त की एक **सच्ची** और **वास्तविक भावना** की तस्वीर खिंची हुई पाई जाती है और आपकी Classic उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का **जहर** इसमें कहीं नहीं पाया जाता जो यहाँ तक कृत्रिमतापूर्ण रहती है कि उसके जोड़ की एक निराली दुनिया केवल कवि जी के मस्तिष्क ही मात्र में स्थान पाए हुए हैं।''*[66] भारतेन्दु के ग्रामीण गीतों का असर कविता में लाना चाहते हैं तो इसका कारण जन साधारण में कविता का प्रसार करना है और इसके माध्यम से उनकी चेतना बदलनी है। बालकृष्ण का ग्रामगीतों की ओर झुकाव उसमें वास्तविकता एवं सच्चाई के कारण हैं, यहाँ कृत्रिमता नहीं है। कविता में 'वास्तविकता भावना' का आना बहुत जरूरी है तभी वह 'सच्ची कविता' होगी। भारतेन्दु के ध्यान 'देश की उन्नति' पर ज्यादा है और बालकृष्ण का ध्यान साहित्य की उन्नति पर, इसलिए यह अंतर है। भारतेन्दु को जनता को सँवारना है और बालकृष्ण भट्ट को कविता को, मूलभूत उद्देश्य एक है, पर यह अंतर इसलिए है कि भारतेन्दु मुख्यतः रचनाकार हैं और बालकृष्ण भट्ट मुख्यतः आलोचक।

2. व्यावहारिक आलोचना

भारतेन्दु युगीन आलोचना नाटक, कविता, उपन्यास के बारे में एक धारणा का विकास करती है, पर उसका काम यहीं तक नहीं है। वह उस युग के रचनात्मक साहित्य से जुड़ती हैं आलोचना का काम रचना से जुड़ना है, इसके बिना सारी साहित्यिक अवधारणा कोरी है। भारतेन्दु युग के आलोचक ने इसका ध्यान रखा है। इस युग में आलोचना रचना से जुड़ी व पुस्तक समीक्षा के रूप में होता है, पर यही पुस्तक समीक्षा आधुनिक हिन्दी आलोचना की पूर्व पीठिका बन जाती है।

रचना से आलोचना के जुड़ाव का व्यवस्थित ढांचा लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना में मिलता है। इस नाटक की बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन दोनों ने आलोचना की। दोनों की आलोचना के प्रतिमान अलग-अलग हैं पर रचना से जुड़ाव दोनों जगह है, जो कि आलोचना की पहली शर्त्त है।

बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना' आलोचना की एक विकसित समझदारी को गढ़ती दिखाई देती है। बालकृष्ण भट्ट ने इस नाटक पर आधुनिक दृष्टि से विचार किया है। 'संयोगिता स्वयंवर' को

ऐतिहासिक नाटक कहा गया था, बालकृष्ण भट्ट इससे सहमत नहीं हैं। उन्होंने लिखा—''*लालाजी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपसे धीरे से पूछै वह यह है कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे? क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने ही से वह ऐतिहासिक हो गया? क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने से ही वह लेख ऐतिहासिक हो जाएगा? यदि ऐसा है तो गद्य हाँकने वाले दस्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा।*''[67] बालकृष्ण भट्ट ऐतिहासिक नाटक के लिए सिर्फ ऐतिहासिक घटना या पात्र को विषय बनाना जरूरी नहीं समझते। इसके लिए जरूरी है इस युग के भाव को समझना, 'Spirit of Times' की समझ, तत्कालीन लोगों के 'हृदय की दशा' को समझना। उन्होंने लिखा—''*किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी उसके आभ्यंतरित भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात् उस समय मात्र के भाव Spirit of Times क्या थे? इन सब बातों का ऐतिहासिक रीति पहले समझ लीजिए तब उसके दरसाने का भी यत्न नाटकों के द्वारा कीजिए।*''[68]

बालकृष्ण भट्ट इन तत्वों का 'संयोगिता स्वयंवर' में अभाव पाते हैं। इस नाटक का पात्र सिर्फ इतिहास का है, बाकी सब जगह अपनी मनमौजी और 'बाहरी उछल कूद है। उनके अनुसार—''*नाटक में पांडित्य नहीं मनुष्य के हृदय से आपका कितना गाढ़ा परिचय है यह दरसाना चाहिए।*''[69] नाटक का काम 'पांडित्य' प्रदर्शन नहीं है, यहाँ मनुष्य के 'हृदय' से जुड़ना पड़ता है। बालकृष्ण भट्ट संयोगिता स्वयंवर में मनुष्य का हृदय नहीं उनके पात्रों के हृदय में पांडित्य प्रदर्शन की भावना पाते हैं। इसलिए वे 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना करते हैं।

नाटक में पात्रों का व्यक्तित्व अलग-अलग होता है। बालकृष्ण भट्ट Characterization की बात करते हैं। संयोगिता स्वयंवर में ऐसा नहीं है। यहाँ सभी पात्र 'उपदेश देने की हवस' में 'लथर-पथर' हैं। बालकृष्ण भट्ट 'संयोगिता स्वयंवर' में पात्रों के संवाद में उपदेशात्मकता के साथ-साथ अस्वाभाविकता पाते हैं। यहाँ इतिहास बोध की तो कमी है ही साथ में पात्रों के चरित्र भी अविकसित हैं।

जिन प्रतिमानों पर बालकृष्ण भट्ट ने 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की उसमें आधुनिकता का समावेश है। प्रेमघन ने 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की, पर यहाँ प्रतिमान दूसरे हैं इसलिए उनकी आलोचना की दूसरे तरह की है। यहाँ आलोचना का प्रतिमान संस्कृत नाट्य शास्त्र से लिया गया है, और इसके प्रतिमानों पर 'संयोगिता स्वयंवर' को परखा गया है। वे संयोगिता स्वयंवर की आलोचना करते हुए लिखते हैं—''*यदि यह संयोगिता स्वयंवर पर नाटक लिखा गया तो इसमें कोई दृश्य स्वयंवर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है, क्योंकि यही इसमें वर्णनीय विषय है और अभिनय में मुख्य आनंददायी एवम् कवि के कविता दिखाने का मौका है, न एतबार हो तो रघुवंश, अनेक रामायण, सीता स्वयंवर आदि में देख लीजिए।*''[70] इस प्रकार प्रेमघन संयोगिता स्वयंवर की कथावस्तु की जाँच करते हैं।

कथावस्तु में स्वयंवर का समोवश होना चाहिए था, क्योंकि 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक स्वयंवर से ही है और यही दृश्य गायब है। इसतरह यह नाटक अधूरा है। प्रेमघन की पैनी दृष्टि 'संयोगिता स्वयंवर' से अनेक दोषों को दूर निकालती है। कथावस्तु की पड़ताल करते हुए आगे वे लिखते हैं–''*इसमें कथा की दो प्रणाली थीं अर्थात् मुख्य द्वेष दूसरी प्रीति सो प्रथम तो कवि ने निःशेष ही कर डाला और दूसरी का उचित रीति से निर्वाह न कर सका; पूर्वानुराग का तो नाम ही नहीं लिया, नायिका की प्रीति की कहीं झलक ही नहीं दिखाई, दिखाई भी तो बहुत ही बेहूदे तरह; करनाटकी का प्रवेश किया परंतु आशय और उद्योग ऐसा गुप्त रहा कि नहीं के बराबर हुआ।*''[71] 'संयोगिता स्वयंवर' में कथावस्तु का निर्वाह ठीक से नहीं हुआ है। प्रेमघन ने दिखाया है कि द्वेष और प्रीति यही दो बिन्दु थे, जिसके सहारे कथावस्तु को ठीक-ठीक अंजाम दिया जा सकता था, परंतु ऐसा नहीं हो पाया।

प्रेमघन 'संयोगिता स्वयंवर' में अनेक गड़बड़ियों को ढूँढ़ निकालते हैं। यहाँ 'रस' का निर्वाह भी ठीक से नहीं किया गया है। रस के सम्बन्ध में वे लिखते हैं–''*रस इसमें दो प्रधान थे वीर और श्रृंगार, अंगी कौन है, यह कौन कहे? सच तो यह है कि कोई रस कहीं भी उत्तमता से उदय नहीं हुआ, चित्त का चित्र किसी का ठीक नहीं उतारा गया और जहाँ इसका उद्योग भी किया। वीर को हिंजड़े की पोशाक पिन्हाई और सती वा स्वीकाया को वेश्याओं के श्रृंगार कर दिए।*''[72] 'संयोगिता स्वयंवर' में इस के प्रति गंभीरता गायब है। इसमें वीर और श्रृंगार दो रस प्रधान थे पर इन प्रधान रस की धज्जियां उड़ा दी गईं हैं। कथावस्तु और रस में कोई तालमेल नहीं है। वे लिखते हैं–''*जहाँ श्रृंगार का काम पड़ा, आपने* ***नीति और धर्म्म*** *का उपदेश दिया, जहाँ वीर का मौका आया वीभत्स किया।*''[73] संयोगिता स्वयंवर में रस को लेकर धींगामुश्ती दिखाई गई है। प्रेमघन श्रृंगार रस के निर्वाह के क्रम में 'नीति और धर्म' के उपदेश की बात करते हैं। बालकृष्ण भट्ट ने भी 'संयोगिता स्वयंवर' में उपदेशात्मकता की बात कही है। पर इसकी चर्चा वे पात्रों के व्यक्ति "Characterization) के संदर्भ में की है। वहाँ सभी पात्र एक ही रस में डूबे आदेश की हवस में 'लथर-पथर' हैं। प्रेमघन में और बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि में यह एक महत्वपूर्ण अंतर है।

प्रेमघन 'संयोगिता स्वयंवर' में दृश्यविधान की चर्चा करते हैं। यहाँ इसकी भी गड़बड़ी है। वे लिखते हैं–''*एक गँवार भी जानता होगा कि स्थान परिवर्तन के साथ गर्भांक की आवश्यकता होती है, अर्थात् स्थान के बदले में परदा बदला जाता है; और इसी परदे के बदलने को दूसरा गर्भांक कहते हैं; सो आपने एक ही गर्भांक में तीन स्थान बदल डाले।*''[74]

प्रेमघन का ध्यान 'संयोगिता स्वयंवर' में अस्वाभाविक संवाद की ओर गया है। पृथ्वीराज और संयोगिता के संवाद में गड़बड़ियाँ हैं। पृथ्वीराज संयोगिता से कहता है–''*मेरे नयनों के तारे, मेरे हिय के हार, मेरे शरीर का चंदन*''[75] इस पर प्रेमघन ने टिप्पणी की है–''*प्रिय पाठक! सच बताइए आपको क्या*

अनुमान हुआ कि यह बात स्त्री से कही गई या पुरुष से, अवश्य पुरुष से। परंतु यह संयोगिता का विशेषण है। क्या इसकी जगह यदि मेरे आंखों की पुतली! मेरे हृदय की माला लिखी जाती तो न अच्छा होता?''[76] प्रेमघन ने संयोगिता स्वयंवर के दोषों का उद्‌घाटन बड़ी 'बारीकी' से किया गया है।

प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की विशेषता है कि वे इसमें कालिदास और शेक्सपीयर के नाटक 'As You like it','Merchant of Venice' की नकल को 'संयोगिता स्वयंवर' में साबित करते हैं। यह उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। प्रेमघन ने कालिदास, शेक्सपीयर के उद्धरण को देते हुए बड़े प्रामाणिक तरीके से लाला श्रीनिवास दास के नकल को दिखाया है। उन्होंने लिखा—*''जब भारतवर्ष के कवियों से तृप्ति न हुई तो आप इंग्लैण्ड भी जा पहुंचे।''*[77] लाला श्रीनिवासदास ने किस तरह देशी-विदेशी कवियों का नकल किया, इसका उद्‌घाटन प्रेमघन ने किया है।

उन्होंने 'संयोगिता स्वयंवर' में नान्दी, सूत्रधार, नटी, आदि के भी दोष दिखलाए। प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना लंबी है और उन्होंने इस नाटक के प्रत्येक पृष्ठ को ध्यान में रखकर इसके दोषों का विवेचन किया है। पर प्रेमघन की आलोचना पर शास्त्र का दबाव ज्यादा है इसलिए वे नवीन दृष्टिकोण से इस नाटक पर विचार नहीं कर पाए। बालकृष्ण भट्ट नाटक लिखने के लिए मनुष्य हृदय की पहचान को जरूरी बताते हैं और प्रेमघन के 'संयोगिता स्वयंवर' के विवेचन से यह बात उभरकर सामने आती है कि नाटककार को नाट्यशास्त्र पर गहरी पकड़ होनी चाहिए। बालकृष्ण भट्ट के यहाँ गर्भांक, नान्दी आदि की चर्चा नहीं है। वे ऐतिहासिक नाटक की विशेषता, 'Spirit of Times' के दबाव में नाटक के इन शास्त्रीय पक्षों को भूल जाते हैं। प्रेमघन जब 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना कर रहे थे तब बालकृष्ण भट्ट की आलोचना उनके सामने थी। पर वे बालकृष्ण भट्ट की आलोचना से बचते हुए अपनी आलोचना को दूसरी ओर मोड़ देते हैं। वे लिखते हैं—*''नाट्य रचना के बहुतेरे दोष 'हिन्दी प्रदीप' ने अपनी सच्ची समालोचना में दिखलाए हैं। अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते; हम केवल यहाँ अलग-अलग उन दोषों को दिखलाना चाहते हैं कि जो* ***प्रधान और विशेष*** *हैं।''*[78] प्रेमघन ने बालकृष्ण भट्ट की आलोचना पर टिप्पणी नहीं किया है। उन्होंने अपनी आलोचना को 'प्रधान और विशेष' माना है, इससे दोनों की दृष्टियों में अंतर का पता चलता है।

आरंभिक हिन्दी आलोचना में 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना सम्बन्धी विवाद महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस युग के हर आलोचकों ने इस नाटक पर विचार किया है। प्रतापनारायण मिश्र ने भी 'संयोगिता स्वयंवर' पर अपना दृष्टिकोण रखा है। हालाँकि उनकी आलोचना प्रशंसा से शुरू होती है। प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा—*''हम यह कहने में भी नहीं चूकते कि 'संयोगिता स्वयंवर' एक ऐसा ग्रंथ है जिससे हिन्दी आकार का रत्न कहना योग्य है। उसमें के बाजे-बाजे प्रेम और नीतिपूर्ण वाक्य निश्चिय ही सोने के अक्षरों*

में लिखा के पहिनने के योग्य हैं जिनको ईश्वर ने चाहा तो कभी हम वृहत भाष्य सहित छापने का विचार करते हैं। हमरे प्रेम सिद्धान्त के कई एक महामंत्र और नीति के अनेक उपदेश तथा पुराने आयो की कई एक उत्तम बातें उसमें पाई जाती हैं जिनके लिए भारत माता श्री लालासाहब की रिणी है।''[79] स्पष्ट है कि प्रतापनारायण मिश्र की यह समीक्षा प्रशंसा से लदी है। जिस नीति और प्रेम के भोंडापन के चलते बालकृष्ण भट्ट ने इस नाटक की आलोचना की, वही प्रताप नारायण मिश्र के लिए गले की हार है। प्रशंसा के बाद 'संयोगिता स्वयंवर' में दोषों का उद्‌घाटन भी करते हैं। वे लिखते हैं—*''ग्रंथ में कई बड़े-बड़े दोष भी हैं। स्त्रियाँ कैसी ही चतुर और पढ़ी-लिखी हों नाटककार को चाहिए कि इनकी भाषा पुरुषों से हल्की रखें। युद्ध क्षेत्र में पात्रों की बाजे की ताल पर पाँव उठाना दक्खिनियों के नाटक की नकल है, पर वीर रसं से दूर है। नाचना और युद्ध दिखाना भेद रखता है। पृथ्वीराज और संयोगिता की बातें कवियों की सी है। तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, मेरा मन समुद्र है। ऐसी वा और बहुत सी विजना भरी बातें कवि लिखते हैं, पर प्रेमिक और प्रेमपात्र कभी बोलते नहीं। उस अंक में बात कम और लज्जापूर्ण सात्विक भाव अधिक होना चाहिए।''*[80] प्रताप नारायण मिश्र 'संयोगिता स्वयंवर' की भाषा के आधार पर आलोचना करते हैं। इसमें वे पात्रों के अनुरूप भाषा की माँग करते हैं। वे स्त्रियों की भाषा पुरुषों से हल्की रखने की सलाह देते हैं। यहाँ संस्कृत नाटक की तरह ही पात्रों के अनुरूप भाषा की माँग की गई है जहाँ स्त्री या नौकर आदि की भाषा प्राकृत होती थी और पुरुष या मुख्य पात्र की भाषा संस्कृत। युद्ध क्षेत्र में 'पात्रों का बाजे की ताल पर पांव उठाना' सही नहीं है। यहाँ वीररस का अभाव है; पृथ्वीराज और संयोगिता की बातों में काव्यात्मकता है, इसको संकेत रूप में सात्विक भावों की अभिव्यक्ति द्वारा दिखाया जा सकता था, प्रतापनारायण मिश्र इन दोषों को उभारते हैं। इनकी आलोचना में बालकृष्ण भट्ट या प्रेमघन की तरह बारीकी नहीं है।

भारतेन्दु युग में पुस्तकों की समीक्षा खूब हुई है। इन्हीं समीक्षाओं से आलोचना के मान भी निकले हैं। यहाँ आलोचना की संभावना बरकरार है। बालकृष्ण भट्ट ने गदाधर सिंह द्वारा कृत अनुवादित 'बंगविजेता' उपन्यास के बारे में लिखा—*''एक तो यह उपन्यास ही अति प्रशंसनीय है दूसरे हमारे सुयोग्य मित्र ने इसका अनुवाद भी बहुत उत्तम साधु भाषा में किया है। लाला श्रीनिवासदास के संयोगिता स्वयंवर ऐतिहासिक नाटक के पक्षपातियों को चाहिए एक बार इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ें तो उन्हें सूझने लगे कि ऐतिहासिक लेख कैसे होने चाहिए।''*[81] 'बंगविजेता' का अनुवाद साधुभाषा में है और इसमें ऐतिहासिकता के तत्त्व का निर्वाह किया गया है, इसलिए भट्ट जी इसकी प्रशंसा करते हैं।

प्रेमघन ने भी 'बंगविजेता' की आलोचना की है। उनकी 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की तरह यह आलोचना भी विस्तृत है। उन्होंने इसके हर परिच्छेद पर विचार किया है। वे लिखते हैं—*''यह हिन्दी में मनोहर और अनूठा उपन्यास बना, और इसमें कोई संदेह नहीं कि यह ग्रंथ उपन्यास के समस्त गुणों से युक्त हैं विशेषता यह है कि ग्रंथ उपन्यास के समस्त गुणों से युक्त विशेषता यह है कि आर्य भाषा में भी*

होकर अंग्रेजी प्रबंध और प्रणाली से युक्त है।''[82] प्रेमघन इस उपन्यास पर अंग्रेजी प्रभाव को रेखांकित करते हैं। इसके अनुवाद के बारे में उनकी वही मान्यता है जो बालकृष्ण भट्ट की थी, सिर्फ वे कहीं-कहीं अप्रचलित शब्दों के आने का विरोध करते हैं—''*अनुवाद के विषय में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है क्योंकि वह प्रचलित साधुभाषा में ज्यों का त्यों लिखा गया है और ढंग भी अच्छा है केवल कहीं-कहीं अप्रचलित शब्द आ गए हैं।''*[83] प्रमधन इस उपन्यास में गुण और दोष दोनों का उद्‌घाटन करते हैं। वे इस उपन्यास की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—''*(दूसरा परिच्छेद)* महाश्वेता और सरला के प्रवेश के संग काल और समय एवं दशा सम्बन्ध और स्वभाव का सुन्दर चित्र उतरा है।''[84] प्रेमघन ने इस उपन्यास के हर परिच्छेद को सामने रखकर इस पर विचार किया है। इसी तरह वे चौथा परिच्छेद पर विचार करते हुए लिखते हैं—''*चौथा परिच्छेद बहुत ही मनोहर है, विशेषता सरला और अमला से सांचे की ढली नवेली ललनाओं की स्वाभाविक रसीली और भोली-भाली बातें एवं इन्द्रनाथ का प्रवेश और सच्चे सरल स्नेही और प्रेमी की स्वाभाविक मर्यादा सम्पन्न शुद्ध प्रीति प्रदर्शन और परस्पर सुमधुर प्रेमालाप और साथ ही वियोग सूचना अत्यन्त उत्तमरीति से वर्णित है।''*[85] इस उपन्यास में पात्रों की बातचीत, 'प्रेमालाप' में स्वाभाविकता है। प्रेम की मर्यादा को ध्यान में रखा गया है। प्रेमघन इसीलिए इस उपन्यास की तारीफ करते हैं। वे इस उपन्यास में दोषों का उद्‌घाटन भी करते हैं—''*प्रथम परिच्छेद का पूर्व भाग जो पंचम पृष्ठ के आधे में समाप्त होता है, और जिसमें बंगदेश का इतिहास लिखा गया है, हमारी जान यहाँ पर न लिखा जाना चाहिए, क्योंकि वह उपन्यास का कोई अंग नहीं है यह ऐतिहासिक विज्ञप्ति भूमिका द्वारा प्रकाशनीय है।''*[86] दोषों का उद्‌घाटन करते हुए आगे वे लिखते हैं—''*(तेइसवां परिच्छेद) यहां इन्द्रनाथ विषयक वार्ता होना मुझ नहीं पसंद है, और महेश्वर के मंदिर से यहां तक विमला को इन्द्रनाथ का प्रेम मेरी जान वर्णनीय नहीं है.....।''*[87] इसप्रकार प्रेमघन ने 'बंग विजेता' में गुण-दोष का विवेचन किया। इनकी आलोचना की विशेषता है कि ये रचना की पृष्ठ-दर-पृष्ठ आलोचना करते हैं। बालकृष्ण भट्ट की आलोचना जहाँ रचना से दोषों को निकाल उसी से महत्वपूर्ण प्रतिमान बनाती है, प्रेमघन के यहाँ ऐसा कम हो पाता है, वे रचना के प्रत्येक पृष्ठों से चिपकते तो हैं पर कोई महत्वपूर्ण प्रतिमान नहीं निकाल पाते।

प्रेमघन ने भगवानदास बी० ए० रचित उपन्यास 'उर्दू बेगम' की आलोचना की। यहाँ भी गुण-दोष विवेचन की दृष्टि प्रमुख है। वे इस उपन्यास के बारे में लिखते हैं—''*पुस्तक की मुख्य भाषा बोलचाल की उर्दू है। कहीं-कहीं नागरी भी हिन्दी के वार्तालाप में आ गई है। कुछ स्थानों पर भोजपुरी हिन्दी लिखी गई है जो अधिक अशुद्ध है। यद्यपि और भी स्थानों पर कई प्रकार की अशुद्धियाँ रह गई हैं परंतु अनेक स्थानों लिखावट बहुत अच्छी है। व्यंग्य और विनोद प्रायः अधिकतर स्थानों में वर्तमान हैं जिससे कहीं-कहीं पढ़ने वालों की हँसी नहीं रूकती। कथा का आरंभ बहुत उत्तम रीति से हुआ है। कविता का अंश भी कहीं-कहीं प्रकाशित होता और इसके गुण भी लखाई पड़ते हैं। छन्द भी कई कई और कई हिन्दी के मिलते हैं जिनमें*

कई अच्छे भी हैं। किसी-किसी में नयापन जिन्हें कदाचित् कुछ लोग अरूचिकर कहेंगे, रक्खा गया है। और कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गई है। कहीं विद्या विषयक बातें और कहीं शिक्षा का अंश भी आया है और प्रायः वाक्यों में तुकबंदियाँ की गई हैं। सारांश पुस्तक एक प्रकार से अच्छी कहने योग्य है।''[88] इसी तरह पुस्तकों की समीक्षा करके आलोचना करने की कोशिश भारतेन्दुयुगीन आलोचना में मिलता है। प्रेमघन ने 'नील देवी' (422-प्रेमघन सर्वस्व भाग-2) की भी समीक्षा की है, यहाँ भी गुण-दोष विवेचन की दृष्टि प्रमुख है।

बालकृष्ण भट्ट प्रेमघन की तरह प्रतापनारायण मिश्र के यहाँ भी पुस्तक समीक्षा हुई है। प्रतापनारायण मिश्र ने 'ललिता नाटिका' और 'उजड़ग्राम' की समीक्षा की। उनके द्वारा की गई 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा की तरह इन दोनों रचनाओं में भी गुण-दोष का उद्घाटन किया गया है। 'ललिता नाटिका' के बारे में वे लिखते हैं—*''इसकी भाषा बहुत अच्छी है। नाट्य रीति अत्युत्तम है, पुस्तक प्रशंसनीय है, पर दो बातों की कसर है। एक यह कि दृश्य लेख के पद्य मात्र में कवि का नाम होना अशोभित लगता है क्योंकि नाटक पात्रों के मुख से बार-बार एक ऐसे पुरुष का नाम निकलना जिसका नाटक भर में कहीं काम नहीं पड़ता निरा निरर्थक है। दूसरे कथाप्रबंध भी इसका ऐसा है कि न तो उससे कोई सदुपदेश ही निकलता है और न किसी रस को कुछ असर ही जी पर होता है....बाबू हरिश्चन्द्र की 'चंद्रावली नाटिका' नाटिका ही है जो जबरदस्ती सहृदय मात्र का चित्र अपनी ओर खींच लेती है।'*[89] भारतेन्दुयुगीन समीक्षा में एक खास विशेषता मिलती है कि यहां रचना की भाषा के आधार पर परख की ही गई है साथ में रचना से सदुपदेश निकलता है या नहीं रस का निर्वाह किस तरह हुआ है आदि दृष्टि भी स्थान पाए हैं। प्रताप नारायण मिश्र ने 'उजड़ ग्राम की समीक्षा करते हुए लिखा—*''उजड़ग्राम' कविवर गोल्डस्मिथ कृत 'डेजर्टेड विलेज' का पद्यमय अनुवाद है। इस ग्रंथ को हमारे प्रिय पंडितवर श्रीधर पाठक ने बड़ी रसज्ञता से लिखा है। भाषा का माधुर्य, कविता का लावय, सहृदय मोहारित्व इत्यादि गुणों के अतिरिक्त युरोपीय विचारांशों का एतद्देशीय लोगों को पूर्ण स्वाद देने में भी सच्ची दक्षता दिखलाई है। हमारी समझ में यह कहना भी अत्युक्ति नहीं है कि जिस आभूषण का इंगलैंडीय स्वर्णकार 'गोल्ड स्मिथ' ने बड़ी चतुरता के साथ केवल हरि वर्षीय ललना (अंग्रेजी भाषा)' के लिए अनुवाद किया है, उसे पाइक जी ने रत्नजटित करके नागरी देवी के शृंगारी योग्य बना लिया है।''*[90]

बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग को मिलाने का काम करते हैं। वे दोनों के बीच की कड़ी हैं। उन्होंने 'अश्रुमति नाटक' की समीक्षा की, पर यह सिर्फ समीक्षा नहीं है; इससे कुछ प्रतिमान भी निकले हैं। इस नाटक का बंगला से हिन्दी में अनुवाद मुंशी उदितनारायण लाल ने किया था। 'अश्रुमति नाटक' का सार देकर बालमुकुन्द गुप्त ने इस पर विचार किया है। इस नाटक का सार यह है कि अकबर का सेनापति मानसिंह और महाराणा प्रताप का एक दावत देने क्रम में आमना सामना होता है। महाराणा

प्रताप मानसिंह पर आक्षेप करता है कि ''तुमने अकबर को अपनी बहन देकर कुल में कलंक लगाया है, इसलिए तुम्हारे साथ बैठकर हम भोजन नहीं कर सकते।''[91] मानसिंह यह सुनकर नाराज होता है और वह अकबर के साथ मिलकर महाराणा प्रताप को युद्ध में पराजित करता है। इसी युद्ध के दौरान अकबर की सेना का एक मुसलमान मानसिंह के कहने पर प्रताप की बेटी अश्रुमति को चुरा ले जाता है। मानसिंह ऐसा कर महाराणा प्रताप से बदला लेना चाहता है। वह चाहता है कि वह मुसलमान अश्रुमती से शादी कर ले, पर यह खबर अकबर के बेटे सलीम को लग गई, उसने अश्रुमती की रक्षा की। अश्रुमती सलीम से प्रेम करने लगी सलीम भी उससे प्रेम करने लगा। अश्रुमती अपने प्रेम की बात चाचा शक्तिसिंह से भी कह दी। पीछे 'क्षत्रिय-कुल गौरव' पृथ्वीराज भी अश्रुमती से प्रेम करने लगा, फलतः सलीम ने पृथ्वीराज को मार डाला और अश्रुमती को घायल किया। घायल अवस्था में ही अश्रुमती को उसका चाचा शक्तिसिंह महाराणा प्रताप के पास ले गया। अश्रुमती ने अपने पिता के सामने भी सलीम से प्रेम करने की बात कबूल की। *''मृत्युशय्या पर पड़े हुए पिता प्रताप को इसको सुनने से मानो मरने से पहले ही मर जाना पड़ा। अंत में उसने उस कलंकिनी अश्रुमती को भैरवी बनने का हुक्म दिया। वह महादेव की पूजा करती हुई श्मशान में रहने लगी। वहाँ श्मशान में भी उसे सलीम मिला और अंत में वह गायब हो गई। यह 'अश्रुमती नाटक' का सार है।''*[92]

बालमुकुन्द गुप्त ने इस नाटक का गुणदोष विवेचन नहीं किया है बल्कि एक खास दृष्टि के तहत विचार किया है। यह आलोचना उन्होंने 'भारत मित्र में सन् 1901 में की थी। इसकी आलोचना की शुरूआत करते हुए बालमुकुन्द गुप्त लिखते हैं—*''हमारी समझ में नहीं आया कि इसके बनाने वाले ने क्यों इस पुस्तक को बनाया है? बनाने में इसका उद्देश्य क्या था? देश की भलाई, समाज की भलाई, साहित्य की भलाई, तीनों में कौन सी बात इस पुस्तक के बनाने में सोची गई है? यह वीर रस, श्रृंगार रस, हास्यरस या करुण रस-किस रस की पोथी है? बहुत सोचा कुछ समझ में न आया।''*[93] बालमुकुन्द गुप्त 'अश्रुमती नाटक' पर काफी माथापच्ची करते हैं, पर इसमें उनको न तो 'देश की भलाई', न 'समाज की भलाई' और न ही 'साहित्य की भलाई' मिलती है, किसी रस की भी झलक नहीं है।

बालमुकुन्द गुप्त को इस नाटक में कुछ भी उद्देश्य नहीं मिला; पर एक उद्देश्य तो है जिसे वे ढूँढ निकालते हैं—''हम बंगदेश के पढ़े-लिखे लोगों से पूछते हैं कि इस पुस्तक को पढ़कर बंगदेश की लड़कियों को क्या शिक्षा मिलेगी? और आप सब बंगाली लोग न्याय से कहें कि आप ही को उससे क्या उपदेश मिला? इस पुस्तक के पढ़ने से आपकी गर्दन नीची होती या ऊँची? बंग-साहित्य के मुँह पर इससे स्याही फिरती है या नहीं? आपके बंग साहित्य में यदि ऐसी पुस्तक बढ़ें तो उस साहित्य का मुँह काला होगा कि नहीं?''[94] इस तरह बालमुकुन्द गुप्त 'अश्रुमती नाटक' की तह में जाते हैं और स्पष्ट करते हैं कि इस नाटक से साहित्य का 'मुँह काला' हुआ है, गर्दन-नीची' हुई है आदि।

'अश्रुमती नाटक' क्यों साहित्य के नाम पर 'कलंक' है वे इसका खुलासा करते हैं—''*कैसे दुःख की बात है कि जिस महाराणा ने दूसरे राजपूतों को मुसलमानों को कन्या देने से रोका—एक बंगाली ग्रंथकार उसी पर कलंक लगाता है और उसकी एक कतिपय लड़की का एक मुसलमान के साथ भगाता है। अब विचारिये कि जिस ग्रंथकार ने यह पुस्तक लिखी है, उसने कैसा भारी अनर्थ किया है और कहाँ तक हिन्दुओं के मन को कष्ट नहीं दिया?*''[95] इस प्रकार बालमुकुन्द गुप्त 'अश्रुमती नाटक' को 'हिन्दुओं पर कलंक' के रूप में देखते हैं। बालमुकुन्द गुप्त को 'अश्रुमती नाटक' में यह दिखाया जाना नहीं पचता कि एक हिन्दू की लड़की मुसलमान के साथ कैसे भागी? उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पर 'हिन्दू' दृष्टि हावी हो जाती है। वे 'अश्रुमती नाटक' से उसी तरह भड़के हैं जैसे आज फिदा हुसैन की पेंटिंग से बजरंग दल, बी० एच० पी० बाले और तस्लीमा नसरीन की रचनाओं से मुसलमानी कट्टरपंथी। यह भी एक ट्रैजेडी ही कही जाएगी कि जब साम्राज्यवाद था तब की धार्मिक वैमनस्यता और आज प्रजातंत्र के युग की धार्मिक वैमनस्यता में कोई बदलाव नहीं आया है।

बालमुकुन्द गुप्त अश्रुमती नाटक की ऐतिहासिकता से टकराते हुए लिखते हैं—''*'अश्रुमती' नाटक के कर्ता से हमारा प्रश्न है कि आपका यह नाटक कल्पित है या ऐतिहासिक? यदि कल्पित है, तो उसमें महाराणा प्रताप सिंह आदि के नाम लिखने की क्या जरूरत पड़ी? उनकी एक कल्पित लड़की खड़ी करके उसे एक मुसलमान के प्रेम में पागल करने की क्या जरूरत पड़ी?....यदि इस बात की लिखने की ही इच्छा थी कि नाहक ही एक राजपूत कन्या एक मुसलमान के प्रेम में पागल हो तो और नाम कल्पना कर सकता था। 'अश्रुमती' के लिए प्रताप छोड़कर कोई दूसरा बाप बना सकता था।*''[96] बालमुकुन्द गुप्त यह छूट देने के लिए तैयार हैं कि 'अश्रुमती' को महाराजा प्रताप की बेटी छोड़कर किसी और की बेटी दिखाया जाता तो उतनी गड़बड़ नहीं होती, 'कलंक' का स्तर थोड़ा नीचा रहता। वे इस नाटक की ऐतिहासिकता को खारिज करते हैं कि ''किस इतिहास में लिखा है कि प्रताप के अश्रुमती नाम की एक लड़की थी? और कहाँ लिखा है कि उसे मुसलमान उठा ले गए थे? यह सब बातें केवल मिथ्या कल्पना-मात्र नहीं है, वरंच इससे ग्रंथकार के हृदय का गिरा भाव भी प्रकाशित होता है।''[97]

बालकृष्ण भट्ट ऐतिहासिकता की पड़ताल दूसरे प्रतिमान पर करते हैं। 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना के प्रसंग में उन्होंने लिखा—''*क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक हो गया? क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने से ही वह लेख ऐतिहासिक हो जाएगा?*''[98] और आगे वे लिखते हैं—''*किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी, उसके आभ्यंतरित भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात उस समय मात्र के भाव* Spirit of times *क्या थे?*''[99] बालकृष्ण भट्ट ऐतिहासिकता के लिए 'Spirit of Times को महत्वपूर्ण मानते हैं सिर्फ प्रसिद्ध 'राजा या रानी के आने से' नाटक ऐतिहासिक नहीं हो सकता। बालमुकुन्द गुप्त ऐतिहासिक पात्रों की सच्चाई की पड़ताल करते हैं, वे इतिहास में थे या नहीं,

यह प्रश्न उनके लिए महत्वपूर्ण है। साहित्यकार इतिहास को हुबहू नहीं उतारता, बल्कि उसमें अपनी दृष्टि के हिसाब से थोड़ा बहुत फेरबदल तो करता ही है। बालमुकुन्द गुप्त को इसमें हिन्दुओं को नीचा दिखाने की बू आती है, वे वेद वाक्य की तरह कहते हैं—*''प्रताप के घर में तो क्या, किसी अदना से अदना क्षत्रिय घर में भी ऐसी पापिनी कन्या नहीं हुई जो एक मुसलमान से प्रेम करे और माता-पिता को भूल जाए।''*[100]

अगर बालकृष्ण भट्ट के प्रतिमान के हिसाब देखें तो इसमें एक हद तक ऐतिहासिकता का निर्वाह किया है। उस युग में मार-काट, धार्मिक कट्टरता, आपसी युद्ध में नारी को घसीटना, उसे एक वस्तु समझकर उसपर 'कब्जे की लड़ाई' करना, 'नारी को लेकर भाग जाना, उसे जीतने के लिए युद्ध करना राजाओं और सामंतों के लिए आम बात थी। 'अश्रुमती नाटक' के रचनाकार ने 'उस समय मात्र के भाव' को पकड़ा है। बालमुकुन्द गुप्त हिन्दू जाति के प्रति अंधभक्ति का भाव रखने के चलते 'अश्रुमती नाटक' के विश्लेषण को दूसरी ओर मोड़ दिया। उन्होंने इस नाटक को साहित्यिकता की दृष्टि से नहीं हिन्दुओं पर कलंक की दृष्टि से विचार किया, इसलिए सारी गड़बड़ियाँ हुई हैं।

ऐतिहासिकता की सफलता वर्तमान अर्थवत्ता में है, अश्रुमती नाटक की वर्तमान अर्थवत्ता है, इसमें एक सीख है और 'प्रेम की जीत' है जिसे बालमुकुन्द गुप्त नहीं देख पाते। उन्होंने इस नाटक का जो संवाद उद्धृत किया है इसी से बात स्पष्ट हो जाएगी—

''शक्ति-तू यदि नहीं जानती अश्रुमती। तो सुन, सलीम मुसलमान है, विधर्म्मी है, राजपूतों का परम शत्रु है, उससे हम लोगों का कुछ सम्बन्ध नहीं।

अश्रु०—चाचा! यदि सच ही वह राजपूतों का शत्रु हो ***और शत्रु होकर भी मित्र-सा काम करै, तो क्या उससे*** *प्रेम न करना चाहिए?''*

जब शक्तिसिंह अश्रुमती को मारने के लिए तलवार निकालता है, तो अश्रुमती कहती है—मारो चाचा! मारो ! हृदय पसार देती हूँ। ***मुझे मारकर कलंक से मुक्त हो; मैं सलीम के सिवा किसी को नहीं चाहती।***'[101] अश्रुमती का सवाल कि शत्रु भी अगर मित्र की तरह व्यवहार करे तो उसे प्रेम न करना चाहिए, के सामने धार्मिक कट्टरता गर्द में मिल जाती है। किसी धर्म की पूरी जाति दूसरे धर्म की पूरी जाति का दुश्मन नहीं होती, अश्रुमती का सवाल जितना उस समय प्रासंगिक था उतना आज भी है। बालमुकुन्द गुप्त इस नाटक में किसी शिक्षा का अभाव पाते हैं। इसमें परंपरागत शिक्षा से महत्वपूर्ण मनुष्य की चेतना को बदलने वाली शिक्षा है और सबसे बड़ी बात है एक नारी का विद्रोह करके प्रेम का पक्ष लेना।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में हिन्दू या मुस्लिम धर्म की अंधभक्ति करने वाले ही नहीं थे, खुले दिमाग से सोचने वाले भी थे। बम्बई के बैंकटेश्वर समाचार में 'भाग्य का फेर' की आलोचना छपी थी। इसकी आलोचना पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने की थी। उन्होंने 'भाग्य का फेर' में यह दोष दिखाया था कि इसका

पात्र अनंतचन्द्र अपनी कन्या पर मोहित होता है। अपनी कन्या पर मोहित होना हिन्दुओं के लिए आश्चर्य की बात है। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की इस आलोचना की आलोचना करते हुए हिन्दी प्रदीप में एक अनाम लेखक महादेव प्रसाद ने लिखा था—''*हम चतुर्वेदी जी से पूछते हैं कि हिन्दुओं के लिए यह बुराई की बात नई और अनूठी कब से हुई? क्या हिन्दुओं में चोर बदमाश व विषयी कभी हुए ही नहीं या न होते हैं? यह तो एक मामूली उपन्यास है ऋषि प्रणीत पुराण में हिन्दुओं के सृष्टि रचयिता पितामह ब्रह्मा की करतूत* (चाहे वह निरी पुराणों की गढ़न्त हो या और ही मतलब से लिखी गई हो) चतुर्वेदी जी को नहीं मालूम। जो देवताओं में ऐसी-ऐसी बातें होती आई तो मनुष्यों में हुई यह कौन आश्चर्य की बात है।''[102] महादेव प्रसाद की यह टिप्पणी साहित्य और आलोचना के बारे में सही समझदारी को व्यक्त करती है। एक बात रेखांकित करने योग्य है कि महादेव प्रसाद की यह टिप्पणी और बालमुकुन्द गुप्त की 'अश्रुमती नाटक' की आलोचना एक ही साल में छपी है। एक ही दृष्टि में खुलापन है दूसरे की दृष्टि में धार्मिक कट्टरता।

भारतेन्दु युग में अगर हिन्दू-मुस्लिम एक-दूसरे से दूर होते दीखते हैं तो इस दूरी को कम करने का प्रयास भी किया जा रहा था। हिन्दी प्रदीप के जनवरी 1899 के अंक में एक टिप्पणी छपी है—'हिन्दी उपन्यास लेख को उलाहना' इसके लेखक का नाम स्पष्ट नहीं है। वस 'का० प्र०' मिर्जापुर लिखा हुआ है। उक्त टिप्पणी इस प्रकार है—''दो चार को छोड़कर प्रायः सभी बंगभाषा से अनुवादित उपन्यासों में सब प्रायिक या सामान्य दोष है—और उस दोष के लिए हमारा उलाहना है। वह महादोष यह है—मुसलमानों के चरित्र का ऐसा चित्र खींचना कि जिससे यह भाव होने लगे कि संसार के मनुष्य जाति भर में सबसे नीच, दुष्ट, अत्याचारी, मुसलमान अवतार है। **पृथ्वी तल पर किसी विशेष जाति व सम्प्रदाय के जनमात्र दुष्ट या पापी नहीं हो सकते-सबों में अच्छे या बुरे होते है।**''[103] किसी अनाम लेखक की यह टिप्पणी जितना उस युग के लिए प्रासंगिक थी उतना आज के लिए भी है। उन्होंने आगे लिखा है—''*हिन्दू मुसलमानों में मेल कराना तो दूर रहा, इस प्रकार दिन-दिन दोनों में परस्पर घृणा और द्वेष बढ़ाया जा रहा है। देश के अहित करने वालों में यों उपन्यास लेखकों का भी साझा है।*''[104] गौरतलब है कि महादेव प्रसाद और इस अनाम लेखक की टिप्पणी 'हिन्दी प्रदीप' में छपी थी, इससे हिन्दी प्रदीप के विचारों का खुलापन का पता चलता है। आलोचना कभी-कभी रचना को रास्ता दिखाती है, यह बात इन टिप्पणियों से सच साबित होती है। भारतेन्दु युग के ये अनाम लेखक हैं, पर साहित्य को प्रगतिशीलता की ओर मोड़ने में इनका कम योगदान नहीं है।

भारतेन्दु युगीन आलोचना में भक्तिकाल की चर्चा लगभग गायब है। कहीं-कहीं सूर-तुलसी की चर्चा मिलती है। पर 'हिन्दी प्रदीप' के अगस्त 1906 के अंक में 'संतसमागम, कबीरदास' शीर्षक से एक निबंध छपा था, इसके लेखक हैं सूर्य कुमार वर्मा। इनको भी भारतेन्दुयुगीन या द्विवेदीयुगीन आलोचना में कोई नहीं जानता है। सूर्यकुमार वर्मा अनाम जरूर हैं पर इनके द्वारा कबीर का विश्लेषण बहुत ही महत्वपूर्ण है।

सबसे बड़ी बात है कि इन्होंने कबीर के बारे में जो धारणा सामने रखी, उसको कबीर के कविता के द्वारा विकसित किया है, किसी किवंदंती या और स्रोतों द्वारा नहीं। वे कबीर के बारे में लिखते हैं–''*हिन्दू मुसलमान दोनों की वे निन्दा करते थे। कबीर जी ने जो उनके मत से बात सच जँची सो साफ-साफ कह दिया*''[105] आगे सूर्य कुमार वर्मा लिखते हैं–''*कबीर साहब ने अपनी पुस्तकों में सब बात अनुभव सिद्ध लिखी हैं। वे अपने विश्वास के बड़े पक्के थे। सच कहने में वे कभी नहीं डरते थे।*''[106] सूर्य कुमार वर्मा ने बिल्कुल संयत भाव से कबीर के बारे में अपना विचार रखा है। यहाँ कोई पूर्वग्रह नहीं, कोई पूजाभाव नहीं, कोई दुत्कार या अवहेलना का भाव नहीं, अगर उनके साथ कुछ है तो वह है अपना आलोचनात्मक विवेक और कबीर की कविता, उन्होंने लिखा–''*मालूम होता है कि कबीर अवतारवाद के भी पक्षपाती न थे। अर्थात् वे ईश्वर का अवतार लेकर संसार का उनके द्वारा उद्धार होना नहीं मानते थे।*''[107] कबीर के अवतारवाद के विरोध की कितनी सटीक व्याख्या है। जितनी कबीर की कविता सटीक और बिना लाग लपेट की है उतनी ही उसकी सटीक और बेधड़क व्याख्या सूर्य कुमार वर्मा ने की है। कबीर की कविता के बारे में यह पंक्ति उस युग के लिए बहुत मायने रखती है–''*कबीर साहब की पुस्तकें पढ़ने से चित्त को शांति मिलती है।*''[108] 1906 में कबीर की कविता एक लेखक के चित्त को शांति' प्रदान करने वाली है वही कबीर बाद में 'अटपटे', 'तीखी बात कहने वाला' और 'लोकविद्वेषी' हो जाते हैं, उनकी बात लोगों को 'चुभने' लगती है। इससे पता चलता है कि कबीर की मनमानी व्याख्या बाद में शुरू हुई है, हालाँकि उसके बीज भारतेन्दु युग में भी विद्यमान थे। इस युग के महान समाज सुधारक दयानंद की कबीर के बारे में कोई अच्छी धारणा नहीं थी। वे अपने ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखते हैं–''*जब वह बड़ा हुआ तब जुलाहे का काम करता था। किसी पंडित के पास संस्कृत पढ़ने के लिए गया, उसने उसका अपमान किया। कहा कि–'हम जुलाहे को नहीं पढ़ाते। इसी प्रकार कई पंडितों के पास फिरा परंतु किसी ने न पढ़ाया। तब ऊँटपटाँग भाषा बनाकर जुलाहे आदि नीच लोगों को समझाने लगा। तम्बूरे लेकर गाता था, भजन बनाता था। विशेष, पंडित, शास्त्र वेदों की निन्दा किया करता था। कुछ मूर्ख लोग उसके जाल में फंस गए....*''[109] ये हैं दयानंद का कबीर के बारे में विचार। उस युग में दयानंद का बहुत बड़ा प्रभाव था, उस समय इस अनाम लेखक सूर्य कुमार वर्मा के साहस और आलोचनात्मक विवेक को दाद देनी पड़ती है जिन्होंने कबीर के बारे में सटीक और गंभीर विचार रखा।

सूर्य कुमार वर्मा का यह निबंध 'हिन्दी प्रदीप' में छपा था। 'हिन्दी प्रदीप' का अपना योगदान है पर मुख्य योगदान तो इस लेखक का है। 'हिन्दी प्रदीप' में इस लेख को छपा देख भगवत्स्वरूप मिश्र को भ्रम हो गया कि यह लेख बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है। वे लिखते हैं–''*भट्ट जी कबीर आदि के परिचय में तो तटस्थ, संयत, गंभीर और विश्लेषणात्मक हैं, पर पुस्तकों की आलोचना में कहीं-कहीं मीठी चुटकियाँ भी अवश्य लेते हैं।*''[110] यह हो सकता है कि कबीर पर भट्ट जी ने भी कुछ लिखा हो, पर इस भ्रम का निवारण

हो जाता है क्योंकि श्री भगवत्स्वरूप मिश्र ने अपनी पुस्तक के 245 पृ० पर कबीर को भट्ट जी से जोड़ते हुए जो बातें रखी हैं, वे सूर्य कुमार वर्मा के विचार हैं।

कबीर के बारे में बालमुकुन्द गुप्त के विचार गंभीर हैं। उन्होंने भी कबीर को ठीक तरह से समझा है। गुप्त जी ने लिखा–''*कबीर में विवेचना और कविता शक्ति इतनी थी कि उनकी बनाई चीजें किसी पढ़े-लिखे कवि की बनाई चीजों से कम नहीं है।*''[111] और आगे वे लिखते हैं–''*सर्वसाधारण में जो बोली उस समय बोली जाती थी, उसी में कबीर जी कविता करके अपने हृदय के भाव प्रकाशित करते थे।*''[1112] गुप्त जी के ये विचार 1908 ई० में प्रकाशित ''हिन्दी भाषा'' पुस्तक में आए थे। जाहिर है कि कबीर के कविता पर उस समय तक किसी पूर्वग्रह से विचार नहीं किया गया था। अगर कुछ वैसे विचार थे भी तो उनके सामने ये विचार कमजोर नहीं थे।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में प्रगतिशीलता के तत्व विद्यमान थे, वह धीरे-धीरे विश्लेषण और विवेचन का रास्ता अख्तियार कर रही थी। बात गुण-दोष-विवेचन या समीक्षा तक ही नहीं रूकी थी बल्कि उसमें व्याख्या और विश्लेषण की प्रवृत्ति जड़ जमाने लगी थी, जो कि आधुनिक आलोचना का मूल तत्व है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना में बालकृष्ण भट्ट की आलोचना प्रखर और प्रगतिशील है। आलोचना का काम अपने युग की शक्तिशाली विचारधारा से टकराना भी होता है। बालकृष्ण भट्ट ने इसका ध्यान रखा है। 'वेद' के विश्लेषण के मुद्दे पर उनकी यथार्थवादी दृष्टि सामने आई है। भारतेन्दु युग में दयानंद सरस्वती 'वेद' को ईश्वर रचित सिद्ध कर रहे थे। बालकृष्ण भट्ट ने इसका जोरदार विरोध किया। वे वेद के बारे में लिखते हैं–''*मनुष्य मात्र का यह एक सामान्य धर्म है कि जब वह किसी वस्तु को जानना चाहता है या किसी वस्तु की खोज करता है तो पहले उन्हीं वस्तु में उसकी खोज करता है जो सामने देख पड़ती है तब दूर की चीजों में खोजता है। इसलिए लोगों ने जब पहिले कोई आश्चर्य वस्तु अर्थात् जिसका कारण वे नहीं समझ सके देखा तो उसे ईश्वर मान लिया। वेदों में इन्द्र, वरूण, सूर्य आदि जो देवता माने गए हैं कि वे सब मनुष्यों के प्रथम अनुमान तथा कल्पना के फल हैं। वेद में सबसे परम उपास्यदेव सविता लिखे हैं जो सूर्य का एक नाम है इसका कारण भी यही है कि पृथ्वी पर सबसे बढ़कर आश्चर्य की वस्तु सूर्य है जो नित्य-नित्य हमारे दृष्टिगोचर होता है और प्रकाश में भी उसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है इसलिए पहिले सोचने वालों ने इसी को ईश्वर और जगत का कारण मान लिया। इसी तरह जल, वायु, अग्नि औषधि और विद्युत आदि को भी ईश्वर कल्पना कर लिया। इसलिए वेद के अनेक भागों में इन सबों के नाम का उल्लेख बार-बार किया गया है। क्रमशः ज्यों-ज्यों लोगों की बुद्धि सोचते-सोचते मँजती गई तब वे सूर्य आदि को भी जड़ और भौतिक पदार्थ समझने लगे..... अब सिद्ध हुआ कि वेद मनुष्य रचित है।*''[113] वेद की इससे ज्यादा वैज्ञानिक व्याख्या क्या हो सकती है। बालकृष्ण भट्ट ने लौकिकता के सहारे वेद की अलौकिकता पर प्रहार किया। उनकी आलोचना दृष्टि में लोक का महत्व ज्यादा है। यहाँ आस्था से ज्यादा बुद्धि और विवेक का

जोर है इसलिए वेद की ऐसी व्याख्या हो सकी है।

प्रेमघन ने भी वेद के मुद्दे पर विचार किया है। उन्होंने लिखा है–''*जानना चाहिए कि सृष्टि वा कल्पारंभ मानव सृष्टि के साथ जब ईश्वरीय वाक्शक्ति अर्थात् वाणी वा सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ तो स्वभाव ही से दिव्य प्रतिभावान व्यक्तियों के उच्चारण से स्वयं ब्राह्मी भाषा उत्पन्न हुई और उस दिव्य संस्कार सम्पन्न लोगों से अकस्मात उसी अर्थ में समझी जाने गली। यों क्रमशः कुछ वाक्य बीजों ही के द्वारा शब्द शरय की वृद्धि हुई और वेद का प्रादुर्भाव मुख्य मुख्य महर्षियों द्वारा हो चला। मानो अनादि वेद और उसके ज्ञान का पुनः प्रकाश का क्रम चला। बहुतेरों के चित्त में यह आशंका होगी कि भाषा की सृष्टि भी क्या अकस्मात हो सकती है? और वेद क्या ईश्वर ने बनाए हैं? किन्तु ऐसी आशंकाओं का अंत नहीं है और न वे नई हैं। कितनों को सब के मूल जगत की सृष्टि और स्रष्टा में ही संदेह है.....।*''[114] प्रेमघन दयानंद की तरह ही वेद के बारे में भूलभूलैया का निर्माण करते है। 'दिव्य प्रतिभावान' लोगों में ब्राह्मी भाषा उत्पन्न हुई और तब 'वेद का प्रादुर्भाव मुख्य-मुख्य महर्षियों द्वारा हो चला।' महर्षि वेद के प्रादुर्भाव करने वाले हैं वेद के रचयिता नहीं है। जहाँ बालकृष्ण भट्ट लौकिक उपकरणों से वेद की रचना मनुष्य द्वारा हुई है इस बात को सिद्ध करते हैं? वही प्रेमघन 'ब्राह्मी भाषा; 'दिव्य प्रतिभा सम्पन्न लोग आदि का जंजाल खड़ा करते हैं। आगे प्रेमघन लिखते हैं–''*हमारी उच्च कोटि की कविताओं में भी सरस्वती की कृपा मानते हैं। यों ही किसी गुप्त शक्ति की प्रेरणा अनेक स्थलों पर स्वीकार करनी पड़ती है क्योंकि जिह्वा रहते भी लोग नहीं बोल सकते। बोलने की शक्ति कुछ और ही है और कविता की कुछ और तथा* ***विशेष चमत्कृत रचना की और है।*** *अस्तु, ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना में अधिक आश्चर्यदायक वेद की रचना नहीं है। और इसमें तो संदेह किसी को भी नहीं है कि वेद से प्राचीन साहित्य आज लभ्य नहीं है।*''[115] इसप्रकार हम देखते हैं कि बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन की वेद सम्बन्धी दृष्टि में जमीन आसमान का फर्क है।

वेद की वैज्ञानिक व्याख्या तथा उसे मनुष्य रचित सिद्ध करके बालकृष्ण भट्ट ने कितना बड़ा 'आलोचना का जोखिम' लिया था इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि दयानंद ने वेद की निंदा, उसकी जाँच पड़ताल करनेवालों के लिए बजाप्ते सजा तय की थी। दयानंद के इस विचार को डॉ० वीरभारत तलवर ने इस तरह रखा है–''*ईश्वरीय ज्ञान होने की वजह से मनुष्य की बुद्धि उसकी जाँच-पड़ताल नहीं कर सकती। आलोचना करना तो दूर रहा। ईश्वरीकृत होने के कारण वेद पवित्र ग्रंथ हैं, इसलिए उन पर बहस नहीं की जा सकती। वेदों की निंदा करने वालों को नास्तिक कहते हुए दयानंद ने उन्हें आर्यावर्त देश से बाहर निकाल देने की सजा तय की।*''[116]

3. (क) गद्य का निर्माण

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य ही नहीं हिन्दी भाषा के गद्य के निर्माण का भी युग है। हिन्दी साहित्य

में अनेक विधाओं का प्रादुर्भाव हिन्दी गद्य के निर्माण के कारण हुआ; इसलिए इस युग में भाषा के निर्माण की चिंता मिलती है। भारतेन्दु युगीन आलोचना में हिन्दी भाषा और गद्य को लेकर काफी मंथन हुआ है।

इस युग का साहित्यिक चिंतन समाजोन्मुख है। इसी कारण इस युग की रचनात्मकता पर गद्य का दबाव ज्यादा है। गद्य के बारे में शुक्ल जी ने कहा–*''भाषा अपनी शक्तियों का व्यवस्थित रूप में विकास गद्य में ही करती है।''*[117] भाषा की इसी शक्ति को स्थापित करने का प्रयत्न भारतेन्दुयुग में होता है। श्रीधर पाठक का निबंध 'हिन्दी की अपूर्णता' हिन्दी प्रदीप के नवम्बर 1885 के अंक में छपा था। यह निबंध हिन्दी में गद्य की जबर्दस्त ढंग से पैरवी करता है–*''याद रहे कि किसी भाषा की पुष्टता जिस पर देश का सच्चा अभ्युत्थान निर्भर है अधिकतर गद्य के द्वारा संभव है क्योंकि जितनी स्वतंत्रता के साथ गद्य में किसी विषय का विशेष व्युत्पादन हो सकता है पद्य में किसी तरह पर नहीं। जिस सरलता के साथ गद्य सर्वसाधारण की समझ में आ सकता है उतना पद्य नहीं, इसलिए पद्य की अपेक्षा गद्य से कार्य साधन की आशा कहीं अधिक है। बालकों की तोतरी बोली से लेकर वृद्ध की अंतिम अवस्था तक मनुष्य मात्र के काम में यही आता है। कैसा कोई आशुकवि क्यों न हो घड़ी दो घड़ी से अधिक अपनी साधारण बातचीत पद्य में वह भी नहीं कर सकेगा।''*[118] कविता की अपनी दुनिया है, उसका काम अलग है, पर गद्य की अपनी दुनिया है। इससे जन सामान्य से जुड़ना सुलभ है, क्योंकि यह सबकी समझ में आता है। श्रीधर पाठक इस दृष्टि के तहत गद्य की महत्ता स्थापित कर रहे थे। भारतेन्दु युग में रचनात्मक स्तर पर गद्य की कमी पूरी करने की भरपूर कोशिश होती है। गद्य की कमी ही पूरी नहीं करनी है बल्कि गद्य का निर्माण भी करना है, इसलिए जिम्मेदारी दुहरी है।

भारतेन्दु युग के सभी आलोचकों में गद्य के प्रति झुकाव है। हिन्दी गद्य को विकसित करना है तो उसे अनेक स्तरों पर समृद्ध बनाना होगा। यह भाषा समृद्ध सिर्फ हिन्दी से चिपके रहने से नहीं हो सकती अन्य भाषाओं से भी संपर्क बढ़ाना होगा, इस बात को रेखांकित करते हुए प्रेमघन लिखते हैं–*''ग्रंथ भी बहुत प्रकाशित होते हैं तौ भी लोग यही कहते हैं कि हमारी भाषा में अच्छे ग्रंथ नहीं हैं, अच्छे लेखक नहीं हैं। क्या यह वास्तव में सच है तो इसका कारण क्या है? हम यह कहेंगे कि हमारी भाषा की ऐसी दशा हो गई है कि जब तक कोई संस्कृत, ब्रजभाषा, उर्दू, फारसी और अब अंग्रेजी भी न जाने वह अच्छा लेखक नहीं हो सकता.....अंग्रेजी अब सबसे अधिक आवश्यक हो गई है जिसके बिना वर्तमान समय में कुछ कार्य ही नहीं चल सकता। इसी से उन लोगों के पीछे के जो लोग हुए उनमें से जो जितनी ही अधिक भाषाओं के ज्ञाता थे वैसी अच्छी भाषा लिख सके।''*[119]

भाषा के सम्बन्ध में दृष्टि की संकीर्णता इसके उत्थान में सहायक नहीं हो सकती। भाषाई संकीर्णता से उबरने की कोशिश भारतेन्दुयुग के रचनाकारों-आलोचकों के द्वारा हुई है। हिन्दी भाषा और गद्य की

उन्नति को लेकर बालकृष्ण भट्ट भी उतने ही चिंतित थे। उन्होंने हिन्दी की उन्नति के लिए भाषाई संकीर्णता को छोड़ना जरूरी समझा। उन्होंने लिखा—''*बहुत से लोगों का मत है कि हम लिखने पढ़ने की भाषा से यावनिक शब्दों को बीन-बीनकर अलग करते रहे। कलकत्ता और बम्बई के कुछ पत्र ऐसा करने का यत्न भी कर रहे हैं किन्तु ऐसा करने से हमारी हिन्दी बढ़ेगी नहीं वरन् दिन-दिन संकुचित होती जाएगी। भाषा के विस्तार का सदा यह क्रम रहा है कि किसी भी देश के शब्दों को हम अपनी भाषा में मिलाते जाँच और उसे अपना करते जाएँ और उसे अपना करते रहें। अरबी-फारसी को कौन कहे अब तो अंग्रेजी के शब्द हमारी हिन्दी के अंग होते जा रहे हैं, जैसे लालटेन, बोतल, पालिसी, स्टेशन.....आदि।*''[120] इसतरह बालकृष्ण भट्ट हिन्दी गद्य एवं भाषा के विकास एवं विस्तार के लिए हिन्दी को संकीर्ण बनाकर उसे अपनी दुनिया तक समेटने का विरोध कर रहे थे। भारतेन्दु युग में भाषाई कट्टरता के समर्थक दो काम कर रहे थे, पहला, वे हिन्दी से अरबी-फारसी शब्दों को निकाल रहे थे और दूसरा, हिन्दी में कठिन संस्कृत शब्दों को भर रहे थे। बालकृष्ण भट्ट इन दोनों दृष्टियों का विरोध करते हैं.....''*गद्य लेख के सम्बन्ध में तुलसी सोना मुँह में लेकर यह प्रण कर लेना कि गूढ़ातिगूढ़ संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त उर्दू शब्द आने ही न पावें जैसा हमारे नवीन सम्पादक हिन्दुस्तान और दो एक और सहयोगी करते हैं। दफा की जगह अध्याय, सिपाही को योद्धा, जहाज को अर्णवजान, कचहरी को न्यायालय इत्यादि—ऐसा करना तो मानो हिन्दी का गला घोंटना है और संस्कृत शब्दों की साँकड़ से उसे जकड़ रखना है। भाषा के विस्तृत करने का यह उत्तम प्रकार कभी न कहा जाएगा।*''[121] बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि प्रेमघन से ज्यादा साफ थी। जहाँ प्रेमघन हिन्दी भाषा के उत्थान के लिए संस्कृत, ब्रजभाषा, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी सबसे जुड़ने की बात करते हैं वहीं वे उस युग की एक खास प्रवृत्ति को नजरअंदाज कर देते हैं। वह प्रवृत्ति थी हिन्दी में भारी भरकम संस्कृत के शब्दों को एक खास दृष्टि के तहत भरना। बालकृष्ण भट्ट इसकी नोटिस लेते हैं और इस दृष्टि का विरोध करते हैं।

भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा के उत्थान के सम्बन्ध में कहा—''*परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।*''[122] और उनकी यह प्रसिद्ध पंक्ति जिसका उपयोग अपनी भाषा से प्रेम जताने के लिए किया जाता है—

''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।''

भारतेन्दु 'निज भाषा' की उन्नति में ही देश, समाज की उन्नति देखते हैं। भारतेन्दु युग में हिन्दी भाषा और गद्य के विकास के लिए बालकृष्ण भट्ट महत्वपूर्ण काम करते हैं। वे एक तरफ हिन्दी भाषा में जो कट्टरता आ रही थी, उसका विरोध करते हैं, दूसरी तरफ हिन्दी भाषा में साहित्यिक विधाओं के विकास की बात करते हैं। उन्होंने लिखा—''*अपनी निज की भाषा के कामकाजी शब्दों को मर जाने का मृतक प्राय हो जाने*

से बचाना अच्छे लेखकों का काम है। बाहरी भाषाओं के शब्दों को अपना-सा कर डालना जिससे भाषा दिन-प्रतिदिन अमीर होती जाए यह भी एक बड़ा काम है और सबसे बड़ा काम है अपनी भाषा के विषयों को दूना-चौगुना करते जाना अर्थात् जो-जो विषय भाषा में कम थे उनको जिला देना और जो विषय कभी थे ही नहीं उनकी बाहर से लाय भरती करना।''[123] बालकृष्ण भट्ट हिन्दी गद्य के विकास के लिए हिन्दी भाषा को साहित्यिक विधाओं के विकास पर बल देते हैं। इसी बात को श्रीधर पाठक ने और मजबूत अंदाज में रखा है। वे लिखते हैं—''क्या आश्चर्य नहीं है कि गद्य की ओर हिन्दी वालों की इतनी कम झुकावट है कि अब तक हमारी भाषा में आदर देने योग्य गद्य के उतने ग्रंथ भी नहीं है कि हम उन्हें ऊँगलिययों पर गिन सकें। हिन्दी में ऐसा कोई इतिहास नहीं जिसे इतिहास कह सकें, ऐसा कोई वैज्ञानिक विषयक ग्रंथ नहीं जिससे हम अपनी भाषा में विज्ञान के अभिमानी बनें, ऐसे उपन्यास नहीं जिनकी हम यूरोप के नोवेलों से तुलना करें, दार्शनिक विषयों पर ऐसे अनोखे लेख नहीं जिनसे हम अपने को दर्शन को पारंगत कहें। कोई भी तो ऐसा ग्रंथ नहीं जिनसे हिन्दी को हम माननीय भाषा कहने में न संकुचांय।''[124] श्रीधर पाठक हिन्दी गद्य को सिर्फ साहित्यिक विधाओं तक ही सीमित करके नहीं देखना चाहते बल्कि वे इसके फलक का विस्तार करते हैं। श्रीधर पाठक गद्य के विकास के लिए सही और सटीक सुझाव देते हैं। उपन्यास, कहानी के अलावा हिन्दी गद्य को इतिहास, विज्ञान, दर्शन की ओर भी जाना होगा। आगे वे लिखते हैं—''*योरूप की भाषा से देखिये, इतिहास, भूगोल, खगोल, भौतिक विद्या, पदार्थ विद्या, विज्ञान, दर्शन, नाटक, उपन्यास, समुद्रयात्रा, देशयात्रा, डायरी, जीवनचरित्र इत्यादि इत्यादि अनेक और अनंत रूपों से गद्य का मान और सत्कार बढ़ा रहे हैं।*''[125] श्रीधर पाठक हिन्दी गद्य को कहाँ और किस तरह बढ़ाना चाहते थे, स्पष्ट है। वे गद्य की दरिद्रता ही नहीं, हिन्दी गद्य की विधागत दरिद्रता को भी मिटाना चाहते थे।

हिन्दी भाषा के उत्थान के लिए श्रीधर पाठक के ठोस सुझाव का क्रियान्वयन कैसे हो, इस पर बालमुकुन्द गुप्त विचार करते हैं। श्रीधर पाठक हिन्दी भाषा और गद्य के विकास की भूमि प्रदान करते हैं, बालमुकुन्द गुप्त इसके व्यावहारिक पक्ष पर अपने को केन्द्रित करते हैं। बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दी की उन्नति' निबंध 6 अप्रैल, 1901 को भारत मित्र में लिखा था।''[126] इस निबंध में उन्होंने लिखा है—''*केवल गाल बजाने से भाषा की उन्नति नहीं होती है। भाषा की उन्नति के लिए लेखक चाहिए। लेखक बनने के लिए पाठक चाहिए और पाठक होने के लिए मातृभाषा पर अनन्त अनुराग, अनंत प्रेम, अनंत शक्ति चाहिए। जब तक इन वस्तुओं का अभाव रहेगा तब तक मातृभाषा की उन्नति-उन्नति चिल्लाना केवल गाल बजाकर भूख बढ़ाना है।*''[127] बालमुकुन्द गुप्त की यह दृष्टि वैज्ञानिक और व्यावहारिक है। आगे वे लिखते हैं—''*इस देश में थोड़े से लोग हिन्दी लिखते हैं, उनमें से बहुत ही थोड़े लोग हिन्दी लिखने की योग्यता रखते हैं। जितने लोग हिन्दी पढ़ते हैं उनमें से बहुत ही थोड़े लोग पढ़ी हुई बात को समझने की शक्ति रखते हैं। यदि सचमुच ही आप हिन्दी की उन्नति चाहते हैं तो यह दोष दूर करने की चेष्टा कीजिए। दोष दूर करने का उपाय*

केवल पढ़े हुए लोगों से लिखाने के साथ उनकी लिखी हुई चीजें बिकवाने की चेष्टा करना है।''[128] बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी की उन्नति के लिए ठेठ व्यावहारिक जमीन पर अपने को रखकर सोचते हैं और लेखक-पाठक और बाजार , इन तीनों के सम्बन्ध और एकता को रेखांकित करते हैं। सिर्फ विद्वता प्रदर्शन और लाइब्रेरी के लिए किताब लिखने से हिन्दी की दुनिया संकुचित होगी। बालमुकुन्द गुप्त का हिन्दी की उन्नति के लिए दिया गया सुझाव जितना गुलाम भारत के लिए सच था उतना ही आजाद भारत के लिए भी।

बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी के लिए पाठक वर्ग तैयार करना चाहते हैं और पाठक जोर-जबर्दस्ती से नहीं बनाया जाता इसके लिए हिन्दी को जनता की आशा-आकांक्षा से जुड़ना होगा उनकी जरूरतों और जिज्ञासाओं को समझना होगा। इन्हीं जरूरतों और जिज्ञासाओं को समझते हुए श्रीधर पाठक ने हिन्दी की रचनात्मक दुनिया का फैलाव करने की बात की थी। प्रेमघन हिन्दी भाषा की उन्नति को दूसरे ऐंगल से देखते हैं, पर वे बड़े काम के हैं। उन्होंने लिखा—*''कहिए तो अपने किस राजा महाराजा के दरबार में कभी कोई हिन्दी समाचार पत्र वा मासिक पत्र पढ़ा, सुना व देखा जाते देखा है? किस अमीर वा रईस के हाथों में उसे कभी खुला अवलोकन किया है? किस राज कर्मचारी की मेज पर रक्खा भी लखा है। और किस ग्रेजुएट के चश्मे के तले उसे पढ़ा जाते पाया है। कदाचित आप अवश्य ही कहेंगे, कि—नहीं नहीं वा, कदाचित।''*[129] प्रेमघन ने सम्भ्रांत और तथाकथित बौद्धिक लोगों के अपनी भाषा के प्रति लगाव की कलई खोल दी है। वे सामान्य जनता तक ही हिन्दी को समेटना नहीं चाहते थे बल्कि उच्च वर्ग और सत्ता से जुड़े लोगों में भी इसकी पैठ कराना चाहते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—*''हम कहते हैं कि जब तक पूर्वोक्त जनों में इसका पूर्ण प्रचार न होगा हमारी भाषा की भी उन्नति कदापि न होगी।''*[130] प्रेमघन सामान्य जनता को हिन्दी प्रेम की भूलभूलैया में फंसाकर ऊँचे तबके और सत्ता से जुड़े लोगों को इसकी छूट नहीं देना चाहते हैं। उनका ध्यान उच्च वर्ग में हिन्दी की पैठ कराने पर केन्द्रित है, और यह सही था। आज हिन्दी बेसहारों और बेचारों की भाषा हो गई हैं और सभी जगह अंग्रेजी की तूती बोलती है तो इसका कारण कहीं न कहीं सम्भ्रांत और ऊँचे लोगों में हिन्दी भाषा के प्रति दुराव के भाव का होना है।

(ख) हिन्दी उर्दू की एकता-अनेकता

भारतेन्दु युग में हिन्दी भाषा की उन्नति को ध्यान में रखकर खूब मंथन हुआ, पर इसी के साथ हिन्दी-उर्दू की एकता-अनेकता का सवाल जुड़ गया। राज-काज की भाषा में पहले फारसी फिर उर्दू की पैठ के चलते हिन्दी की टकराहट उर्दू से होने लगी। इस टकराहट को कम करने के प्रयास हुए। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—*''यह कौन कहता है कि उर्दू कोई दूसरी वस्तु है, सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का एक रूपांतर है।''*[131] हिन्दी उर्दू की इसी एकता को रेखांकित करते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा—*''ऊपर से देखिये तो*

उर्दू और हिन्दी में इस समय बड़ी अनबन है। उर्दू के तरफदार हिन्दी वालों को और हिन्दी के पक्षवाले उर्दू वालों को कुछ-कुछ टेढ़ी दृष्टि से देखते हैं, पर वास्तव में उर्दू-हिन्दी का बड़ा मेल है। यहाँ तक कि दोनों एक ही वस्तु कहलाने के योग्य हैं। केवल फारसी जामा पहनने से एक उर्दू कहलाती है और देवनागरी वस्त्र धारण करने से दूसरी हिन्दी।''[132] बालमुकुन्द गुप्त ने सिर्फ लिपि भेद के कारण हिन्दी-उर्दू को अलग-अलग बताया और वे इस लिपि भेद को दूर करना चाहते थे। उन्होंने लिखा—''इस समय हिन्दी के दो रूप हैं। एक उर्दू दूसरा हिन्दी। दोनों में केवल शब्दो का ही नहीं लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता तो दोनों रूप मिलकर एक हो जाता। यदि आदि से फारसी लिपि के स्थान में देवनागरी लिपि रहती तो यह भेद ही न होता। अब भी लिपि एक होने से भेद मिट सकता है।''[133] बालमुकुन्द गुप्त लिपि भेद को मिटाकर हिन्दी-उर्दू की एकता कायम करना चाहते थे।

भारतेन्दु उर्दू में कविता लिखते थे। बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दू-उर्दू की एकता पर जोर दिया, पर यही सच नहीं था, यह भी सच था कि भारतेन्दु 'उर्दू का स्यापा' भी लिखते थे। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' के अनेक अंकों में उर्दू को खरी-खोटी सुनाई है। उन्होंने हिन्दी में अरबी-फारसी के शब्दों को 'हंस के दल में कौआ'[134] भी कहा है। भारतेन्दुयुग में हिन्दी-उर्दू की एकता-अनेकता का मामला इतना सीधा और साफ नहीं था। हिन्दी-उर्दू के विवाद में मूलतः आर्थिक हित था, पर यही धीरे-धीरे धार्मिक हित बन गया। अंग्रेजी साम्राज्यवाद की इसमें कम भूमिका नहीं थी। इसी धार्मिक हित की अंध समझदारी विकसित होने के चलते हिन्दी में संस्कृत और उर्दू में फारसी-अरबी के शब्द भरे जाने लगे और दोनों भाषा के बीच दूरी बढ़ती चली गई।

(ग) खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा

भारतेन्दु युग में भाषाई मंथन का एक और क्षेत्र है—कविता की भाषा। हिन्दी गद्य के विकास के साथ इतनी बहस नहीं हुई, यहाँ खड़ी बोली हिन्दी को स्वीकार कर लिया गया, पर कविता के क्षेत्र में द्वंद्व की स्थिति बनी रही कि इसकी भाषा क्या—हो खड़ी बोली हिन्दी या परंपरा से आती ब्रजभाषा? भारतेन्दुयुगीन आलोचना में इस मुद्दे पर खूब विचार हुआ है।

भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन प्रतापनारायण मिश्र सबों के यहाँ स्थिति साफ है। ये लोग कविता में खड़ी बोली के विरोधी थे। हालाँकि भारतेन्दु ने खड़ी बोली में कविता बनाने की कोशिश की, पर वे सफल नहीं हो सके। उन्होंने लिखा—''*जो हो मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे नियमानुसार नहीं बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा में ही उत्तम होती है।*''[135] भारतेन्दु खुद कवि थे, कोशिश की सफल नहीं हुए या उनके प्रतिमानों पर खड़ी बोली की कविता नहीं बनी, पर अपनी अक्षमता या असफलता

के कारण खड़ी बोली को कविता के लिए अक्षम घोषित कर देना ठीक नहीं था।

बालकृष्ण भट्ट ने अपनी ओर से खड़ी बोली में कविता बनाने की कोशिश नहीं की थी, वे कवि नहीं मुख्यतः आलोचक थे। अगर भारतेन्दु का कवि हृदय यह मानने को राजी नहीं था कि खड़ी बोली में कविता हो सकती है तो बालकृष्णभट्ट का आलोचक हृदय यह स्वीकार करने को कतई तैयार नहीं था कि खड़ी बोली में कविता की जाए। बालकृष्ण भट्ट ने खड़ी बोली के बारे में लिखा—''मेरे विचार से खड़ी बोली में एक इस प्रकार का कर्कशमन है कि कविता में काम ला उसमें सरसता सम्पादन करना प्रतिभावान के लिए भी कठिन है तब तुकबंदी वालों की कौन कहे। मैं खड़ी बोली की कविता का सर्वथा विरोध नहीं करता, परंतु मेरा यह प्रयोजन है कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से निराली ही सोहती है। न मैं शुद्ध ब्रजभाषा का पक्षपाती हूँ। मुझे तो तुलसी, बिहारी, रसखान आदि कवियों का ढंग भाता है।''[136] बालकृष्ण भट्ट 'शुद्ध ब्रजभाषा का पक्षपाती' नहीं होने के बावजूद खड़ी बोली का विरोध करते हैं। चूँकि खड़ी बोली की कविता में माधुर्य नहीं आ सकता इसलिए तुलसी, बिहारी, रसखान आदि कवियों का रास्ता पकड़ना सही है; बालकृष्ण भट्ट की यही मान्यता है। वे इस बात को भी रेखांकित करते हैं कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से अलग रहे तो अच्छा है। प्रतापनारायण मिश्र के यहाँ भी यही स्थिति है। वे भी कविता की भाषा गद्य की भाषा से अलग रखने की बात करते हैं....*''ब्रज भाषा भी नागरी देवी की सगी बहिन है, उसका निज स्वत्व दूसरी बहिन को सौंपना सहृदयता के गले पर छूरी फेरना है। हमारा गौरव जितना इसमें है कि गद्य की भाषा और रक्खें, पद्य की और, उतना एक को बिलकुल त्याग देने में कदापि नहीं।''*[137] बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र की तरह प्रेमघन भी कविता की भाषा अलग रखना चाहते हैं—*''सभी भाषाओं में बोलचाल और कविता की भाषा में भेद रहता है।''*[138]

प्रतापनारायण मिश्र कविता की भाषा अलग रखना चाहते थे, तो इसके पीछे वही तर्क था कि खड़ी बोली में वो मिठास नहीं है जो ब्रजभाषा में है। इसमें छंद का भी अभाव है। वे लिखते हैं—*''सिवाय फारसी छंद और दो-तीन चाल की लावनियों के और कोई छंद उसमें बनाना भी ऐसा है जैसे किसी कोमलांगी सुन्दरी को कोट बूट पहिनाना। हम आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दु जी से बढ़के हिन्दी भाषा का आग्रही दूसरा न होगा। जब उन्हीं से यह न हो सका तो दूसरों का यत्न निष्फल है। बाँस चूसने से यदि रस का सवाद मिल सके तो ईख बनाने का परमेश्वर को क्या काम था।''*[139] वे और मजबूत अंदाज में आगे कहते हैं—*''जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है जो ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, बैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फारसी से बन गई है, जिसे चन्द्र से लेकर हरिश्चन्द्र तक प्रायः सब कवियों ने आदर दिया है, उसका-सा अमृतमय चित्त चालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके यह किसी के बाप की मजाल नहीं।''*[140] प्रतापनारायण मिश्र एक भारतेन्दु की कसौटी पर खड़ी बोली में काव्यत्व को परखते हैं और चूँकि भारतेन्दु से ऐसा नहीं हो सका इसलिए औरों से भी

नहीं ही होगा, यह बेतुकी जिद और भारतेन्दु की अंधभक्ति का परिणाम है।

प्रतापनारायण मिश्र के 'बाप की मजाल' वाली चुनौती को श्रीधर पाठक ने बखूबी स्वीकार किया और उन्होंने खड़ी बोली का जबर्दस्त ढंग से समर्थन किया। श्रीधर पाठक ने लिखा–''*खड़ी हिन्दी की कविता अभी बाल्यावस्था में है, अभी इसका आरंभ ही है। अभी कवियों ने अपनी शक्ति को इस पर भलीभांति परीक्षित नहीं किया है तो फिर क्योंकर कहा जा सकता है कि इसकी कविता में कविता के गुण नहीं आ सकते या इसकी भाषा काव्योपयोगी नहीं है।*''[141] श्रीधर पाठक शांत और सुलझी हुई दृष्टि से खड़ी बोली में कविता लिखने के पक्ष में तर्क देते हैं। यहाँ कोई दुराग्रह नहीं है। उन्होंने लिखा–''*किसी शिष्ट भाषा के विषय में यह कहना कि वह कविता के योग्य नहीं है, भाषा के सामान्य स्वरूप और कविता के उद्देश्य को ले अपनी अनभिज्ञता का प्रदर्शन करना है। यह बात कि अमुक भाषा की कविता अमुक भाषा की कविता से अधिक रसीली है दूसरी है, और इससे किसी भाषा के काव्य के लिए अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती।*''[142] श्रीधर पाठक का तर्क वैज्ञानिक है। खड़ी बोली की कविता से किसी और भाषा की कविता अधिक रसीली हो सकती है, पर इसका यह कतई मतलब नहीं है कि खड़ी बोली में कविता ही नहीं हो सकती। उन्होंने दुराग्रह नहीं तर्क के सहारे इस बात को सिद्ध किया है। श्रीधर पाठक के कथनी और करनी में भेद नहीं था। उन्होंने खड़ी बोली में कविता करके भी दिखाई। तभी बालकृष्ण भट्ट को कहना पड़ा–''*खड़ी बोली की रूखी कविता में रस और मिठास की खोज की जाए तो पाठक जी ही ऐसे सुलेखकों की लेखनी में पाई जाती है। इनका 'एकांतवासी योगी' और 'ऊजड़गाँव' ऐसी कई एक पद्य रचना हिन्दी साहित्य में चिरस्थाई रहेंगी।*''[143]

खड़ी बोली हिन्दी कविता के विरोध में यह तर्क दिया गया था कि इसमें माधुर्य नहीं है, इस धारणा को बनाने में बालकृष्ण भट्ट अनन्य सहयोगी थे; पर औरों से उनकी स्थिति कुछ भिन्न भी है। बालकृष्ण भट्ट माधुर्य नहीं होने के कारण खड़ीबोली हिन्दी की कविता के विरोधी हैं यह एक कारण है। वे एक और कारण से खड़ी बोली हिन्दी कविता का विरोध कर रहे थे और वह कारण है–गद्य का आत्यंतिक दबाव महसूस करना और इसको प्राथमिकता देना, इस दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट खड़ी बोली हिन्दी कविता के विरोधी होते हुए भी औरों से भिन्न हैं। उन्होंने लिखा–''*खड़ी बोली के रसिक उसे पद्य में लाने के व्यर्थ प्रयास से मुँह मोड़ यदि गद्य लेख के बढ़ाने में प्रयत्न करें तो हिन्दी कविता का कितना उपकार हो।*''[144] युगीन जरूरत के तहत गद्य की आवश्यकता बालकृष्ण भट्ट को खड़ी बोली हिन्दी की कविता के विरोध में खड़ा कर देती है।

संदर्भ-स्रोत

1. शांतिप्रकाश वर्मा, प्रतापनारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन, पृ० 134
2. मंजुल उपाध्याय (संपा०), समकालीन आलोचना की भूमिका, पृ० 255
3. पंडित हरिशंकर शर्मा, श्री महेन्द्र, पंडित वियोग हरि, डॉ० नगेन्द्र (संपा०) बाबूगुलाब राय स्मृति ग्रंथ, पृ० 334
4. प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०), प्रेमघन सर्वस्व भाग-2 , पृ० 447
5. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1886 पृ० 19
6. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०), प्रेमघन सर्वस्व भाग-2, पृ० 477
7. वही, पृ० 32-33
8. झाबरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी (संपा), गुप्त निबंधावली भाग-1, पृ०-428
9. वही, पृ० 499
10. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश ना० उपाध्याय (संपा०), प्रेमघन सर्वस्व, भाग-2, पृ० 424
11. झाबरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी (संपा०), गुप्त निबंधावली, भाग-1, पृ० 433
12. वही, पृ० 427
13. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल, 1904 पृ० 29-30
14. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, समालोचना, पृ० 26
15. हेमंत शर्मा (संपा०) भारतेन्दु समग्र, पृ० 566
16. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881 , पृ० 15
17. हेमंत शर्मा (संपा०), भारतेन्दु समग्र, पृ० 566-567
18. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०), प्रेमघन सर्वस्व, भाग -2 पृ० 419
19. मैनेजर पांडेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ० 92-93
20. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, मई, जून, जुलाई, 1904 पृ० 40
21. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०), प्रेमघन सर्वस्व भाग-2 पृ० 34
22. वही, पृ० 34-35
23. वही, पृ० 31-32
24. हेमंत शर्मा (संपा०), भारतेन्दु समग्र, पृ० 1029

25. वही

26. वही

27. वही

28. वही

29. ब्रह्मरंजन (संपा०), पहल 64-65 (रमेश कुमार का निबंध) पृ० 207 पर उद्धृत

30. वही

31. हेमंत शर्मा (संपा०) भारतेन्दु समग्र, पृ० 565

32. वही

33. वही, पृ० 558

34. वही, पृ० 559

35. वही, पृ० 567-568

36. वही, पृ० 567

37. वही, पृ० 564

38. वही, पृ० 567

39. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1883 पृ० 18-19

40. वही, पृ० 19

41. वही

42. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा), प्रेमघन सर्वस्व, भाग-2 पृ० 29

43. वही, पृ० 35, 36

44. रामकुमार वर्मा (संपा०), हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ० 64

45. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886 पृ० 12

46. रमेशकुमार, आरंभिक हिन्दी आलोचना में विवादों का योगदान, (अप्रकाशित) पृ० 88-89 पर उद्धृत

47. वही, पृ० 90 पर उद्धृत

48. वही, पृ० 89 पर उद्धृत

49. वही

50. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०) प्रेमघन सर्वस्व भाग -2 पृ० 390

51. वही, पृ० 390-91

52 रमेश कुमार, आरंभिक हिन्दी आलोचना में विवादों का योगदान (अप्रकाशित) पृ० 88-89

53. बालकृष्ण भट्ट (संपा०), हिन्दी प्रदीप, मई 1899 पृ० 19

54. वही, पृ० 21

55. वही, पृ० 19-20

56. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1885 , पृ० 1-2 (हिन्दी की अपूर्णता-श्रीधर पाठक का लेख)

57. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1888 , पृ० 5

58. वही, पृ० 4

59. बालकृष्णभट्ट, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1885 , पृ० 2

60. वही, पृ० 2-3

61. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०), प्रेमघन सर्वस्व भाग-2 पृ० 419

62. हेमन्त शर्मा (संपा०), भारतेन्दु समग्र, पृ० 1088

63. झाबरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी (संपा०) गुप्त निबंधावली भाग -1 पृ० 322-323 पर उद्धृत

64. हेमंत शर्मा (संपा०), भारतेन्दु समग्र, पृ० 1028

65. वही

66. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886 , पृ० 15

67. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886, पृ० 16

68. वही

69. वही, पृ० 18

70. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०) प्रेमघन सर्वस्व भाग 2 पृ० 424

71 वही

72. वही

73. वही

74. वही, पृ० 432

75. वही, पृ० 433 पर उद्धृत

76. वही, पृ० 433 पर उद्धृत

77. वही, पृ० 434

78. वही, पृ० 424

79. भगवती प्रसाद शर्मा, नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र, पृ० 314 पर उद्धृत

80. वही, पृ० 315 पर उद्धृत

81. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1886, पृ० 14

82. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०) प्रेमघन सर्वस्व भाग-2 पृ० 441

83. वही, पृ० 441

84. वही, पृ० 442

85. वही

86. वही, पृ० 441

87. वही, पृ० 443

88. वही, पृ० 454

89. भगवती प्रसाद शर्मा, नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र, पृ० 314 पर उद्धृत

90. वही, पृ० 315 पर उद्धृत

91 झाबरमल शर्म, बनारसीदास चतुर्वेदी (संपा०) गुप्त निबंधावली भाग-1 , पृ० 545

92. वही, पृ० 546

93. वही, पृ० 543

94. वही, पृ० 546

95 वही, पृ० 547

96. वही, पृ० 547-548

97. वही, पृ० 548

98. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886 पृ० 16

99. वही, पृ० 16

100. झाबरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी (संपा०) गुप्त निबंधावली भाग -1 पृ० 551

101 वही, पृ० 551 पर उद्धृत

102. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, मई, जून, जुलाई 1901 पृ० 58

103. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, 1899 पृ० 18-19

104. वही, पृ० 19

105. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1906 पृ० 11

106. वही, पृ० 13-14

107. वही, पृ० 14

108. वही, पृ० 19

109. दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, पृ० 246

110. भगवत्स्वरूप मिश्र, हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, पृ० 246-247

111. झाबरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी (संपा०), गुप्त निबंधानावली भाग-1 , पृ० 130

112. वही, पृ० 131

113. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, मार्च 1880 पृ० 17-18

114. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेकश नारायण उपाध्याय (संपा०), प्रेमघन सर्वस्व, पृ० 371

115. वही, पृ० 372

116. वीरभारत तलवार, हिन्दु नवजागरण की विचारधारा, पृ० 21

117. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1 , पृ० 233

118. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1885 , पृ० 3

119. प्रभाकेश्वर उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०) प्रेमघन सर्वस्व, पृ० 412

120. पद्माकर पांडेय (सं०), राष्ट्रीय पत्रकार एवं अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, पृ० 124

121. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, 1887 पृ० 55

122. हेमंत शर्मा (संपा०), भारतेन्दु समग्र, पृ० 1013

123. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०), बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 9

124. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1885 पृ० 3 (हिन्दी की अपूर्णता श्रीधर पाठक)

125. वही, पृ० 4

126. झाबरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी (संपा०), गुप्त निबंधावलि, भाग-1, पृ० 154

127. वही, पृ० 154

128. वही

129. प्रभाकेश्वर प्र० उपाध्याय, प्रेमघन सर्वस्व भाग-2

130. वही, पृ० 489

131. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1883 , पृ० 6

132. झाबरमल शर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी (संपा०) गुप्त निबंधावलि, भाग-1, पृ० 255

133. वही, पृ० 110

134. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, सितम्बर-अक्टूबर, 1897 पृ० 23

135. हेमंत शर्मा, भारतेन्दु समग्र, पृ० 1049

136. पद्माकर पांडेय (सं०), राष्ट्रीय पत्रकार एवं अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, पृ० 127

137. चंद्रिका प्र० शर्मा (सं०) प्रतापनारायण मिश्र रचनावली-2 पृ० 55

138. प्रेमघन सर्वस्व भाग-2, पृ० 40

139. चंद्रिका प्र० शर्मा (संपा०) प्रतापनारायण मिश्र रचनावली-2 पृ० 55

140. वही, पृ० 55

141. पद्मधर पाठक (संपा०) श्रीधर पाठक ग्रंथावली खण्ड-3 पृ० 347

142. वही, पृ० 352

143. पद्माकर पांडेय (संपा०) राष्ट्रीय पत्रकार एवं अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, पृ० 125

144. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर 1899 पृ० 18

तीसरा अध्याय

बालकृष्ण भट्ट की आलोचना का स्वरूप

1. सैद्धांतिक आलोचना
   - *(क) साहित्य*
   - *(ख) कविता*
   - *(ग) नाटक*
   - *(घ) उपन्यास*
2. व्यावहारिक आलोचना
3. भाषा सम्बन्धी आलोचना
   - *(क) गद्य का निर्माण*
   - *(ख) हिन्दी-उर्दू की एकता-अनेकता*
   - *(ग) खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा*
4. जातीय भाषा और जातीयता के गुण

बालकृष्ण भट्ट की आलोचना का स्वरूप

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी आलोचना को मजबूत आधार प्रदान करने वाले आलोचक हैं। वे शास्त्र से साहित्य की घेराबंदी नहीं करते, बल्कि समाज और ठेठ लौकिक चिंतन में डूबकर आलोचना के प्रतिमान विकसित करते हैं। लोक से जुड़ाव और 'नई बात की चाह' ये दो ऐसे बिन्दु हैं जो बालकृष्ण भट्ट की आलोचना के स्वरूप को प्रभावित ही नहीं, प्रकाशित भी करते हैं। इस 'नई बात की चाह' में एक परम्परा के ध्वंस के साथ एक परंपरा के निर्माण की आकांक्षा भी समोई हुई है। ध्वंस और निर्माण की इस प्रक्रिया में उनकी जीवन-दृष्टि का अद्‌भुत योगदान है क्योंकि उनकी जीवन-दृष्टि ही साहित्य-दृष्टि है।

बालकृष्ण भट्ट आलोचना में ही 'नए तरह का जनून' नहीं भरते बल्कि उसे समाज तक ले जाना चाहते हैं। उनका आलोचना-कर्म एक साहित्यिक भूमिका ही नहीं, बल्कि एक सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका भी है। अपनी जीवन-दृष्टि में समाई खाँटीपन को वे साहित्य और आलोचना से भिड़ा देते हैं और वहीं से आलोचना का मान गढ़ते हैं। इस मान की कसौटी अपनी मिट्टी अपना साहित्य होगा यह उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता है। वे प्रतिमान का 'कलम' नहीं लगाते, बल्कि उसका बीज बोते हैं और यह बीज साहित्य और समाज में गहरी दिलचस्पी से पैदा किया गया है। बालकृष्णभट्ट अपने समय और समाज को नकारकर आलोचना के मान नहीं गढ़ते बल्कि उसमें रमकर करते हैं, क्योंकि उन्हें पता है—''*जैसा वृक्ष के सम्बन्ध में है कि कोई-कोई वृक्ष किसी-किसी पृथ्वी में वहाँ का जलवायु अपने अनुकूल पाय वहाँ खूब ही फबकता है वैसा ही विद्या, कला, दर्शन आदि की* ***देश की स्थिति*** *और* ***जलवायु की अनुकूलता*** *के अनुसार वहाँ विस्तार को पाते हैं।*''[1] 'देश की स्थिति' और 'जलवायु की अनुकूलता' साहित्य-सर्जन के लिए ही नहीं, आलोचना के लिए भी जरूरी हैं, इस बात को बालकृष्ण भट्ट भली-भांति समझते थे, उत्तर आधुनिकता एवं ऐसे ही कई 'वादों' के प्रेमी लोगों को भी यह समझना चाहिए।

बालकृष्ण भट्ट असाधारण से असाधारण सत्ता को साधारण से चुनौती देते हैं और इस साधारण के सामने असाधारण बौना पड़ जाता है। अपने निबंध 'ब्रह्मानंद सहोदर' में उन्होंने लिखा—''*लोग कहते हैं ब्रह्मानंद का सा कोई दूसरा आनंद नहीं है पर सच पूछिए तो ऐसा समझने वालों ने खूब डूबकर नहीं सोचा। कितने ऐसे आनंद हैं जिनके आगे ब्रह्मानंद झख मारता है; कवि लोग शृंगार आदि नौ रसों का स्वरूप लिखते ही हैं 'ब्रह्मानंद सहोदर' अर्थात् ब्रह्म के ज्ञान और साक्षात्कार में जो सुख की प्राप्ति होती है यह रस का ज्ञान और अनुभव का सुख भी उसी ब्रह्मानंद का सगा भाई है।*''[2] बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि में लोक का इस कदर आधिपत्य है कि वह 'ब्रह्मानंद सहोदर' जैसे किसी अलौकिक-आध्यात्मिक मुहावरे को स्वीकार

ही नहीं करते; आगे वे लिखते हैं–*''सरदी खूब सुरखी पकड़े हो, मारे जाड़े के दांत किटाकिट बोलते हों, रात का समय हो, पाँच सेर रूई का लिहाफ ओढ़ किसी कोमलांगी विकसित यौवना नवयुवती के कोमल अंगों में अंग साट सो रहना ब्रह्मानंद से क्या कम है....?''*[3] बालकृष्ण भट्ट इस लोक में ही 'ब्रह्मानंद' को तलाशते हैं। जीवन और जगत से कटकर कोई आनंद नहीं हो सकता, बालकृष्ण भट्ट की यह दृष्टि उनकी आलोचना को रूपायित करती है। एक तरफ वे अलौकिकता का विरोध करते हैं और दूसरी तरफ साहित्य को इस लोक से जोड़ते हैं। वे 'ब्रह्मानंद' की असाधारणता को साधारण में बदल देते हैं और फिर यही साधारण असाधारण बन जाता है। इसी निबंध में वे लिखते हैं–*''लिखने बैठा जब कोई उमदा बात सूझ गई और एक चोटीले में चोटीला जी में चुभ जाने वाला आशय लिखकर तैयार हो गया उस समय हमारे जी के आनंद के सामने ब्रह्मानंद खड़ा-खड़ा हाथ जोड़े पछताया करता है।''*[4] यह अपने जीवन और उसी में मिले सुख के सामने किसी अलौकिक सत्ता को नकारना है और प्रकारांतर से साहित्य में जीवन और उसकी आशा-आकांक्षा को स्थापित करने की दृष्टि देना है। बालकृष्ण भट्ट 'ब्रह्मानंद सहोदर' को लोक-सहोदर में बदल देते हैं; क्योंकि लोक से जुड़ने और उसी में रमने में आनंद है, यहाँ 'ब्रह्मानंद' पीछे है और लोकानंद आगे, बिल्कुल कबीर की शैली में–

''कबीर मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।
पीछे लगा हरि फिरै कहै कबीर कबीर।।''

शुक्ल जी ने 'रस दशा' के संदर्भ में कहा–*''इसी को चाहे लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानंद-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभाजन व्यापार का अलौकिकत्व। अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं।''*[5] बालकृष्ण भट्ट अलौकिकता पर प्रहार करते हैं और शुक्ल जी अलौकिकता का 'अभिप्राय' समझाते हैं, पर दोनों जगह हथियार एक ही हैं–लोक में आस्था। बालकृष्ण भट्ट ने कहा–*''परलोक और परमार्थ भाड़ में जाय यह लोक तो बनावें।''*[6]

1. सैद्धान्तिक आलोचना

(क) साहित्य

बालकृष्ण भट्ट लोक से जुड़कर साहित्य सम्बन्धी मान्यता विकसित करते हैं। जब यह स्पष्ट है कि साहित्य को लोक के साथ रहना है तो उस साहित्य की मान्यता को लोक के अनुरूप होनी चाहिए, और लोक के अनुरूप होने का मतलब है, लोक की आशा-आकांक्षा, जीवन-संघर्ष के अनुरूप होना और यहीं से यह धारणा बनती है कि–*''साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।''*[7] और आगे वे लिखते हैं–*''प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्शरूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी*

तरह प्रगट हो सकते हैं।''[8] 'साहित्य की समालोचना' के द्वारा 'मनुष्य के हृदय' को समझना साहित्य और मनुष्य के हृदय में एकता स्थापित करना है साथ में यह एकता यह माँग करती है कि साहित्य में मनुष्य का हृदय आए। साहित्य से मनुष्य की ओर आना और मनुष्य से साहित्य की ओर जाना, यह प्रक्रिया लगातार चलती रहती है। रचना और आलोचना इस प्रक्रिया के अंग होते हैं। बालकृष्ण भट्ट साहित्य की समझदारी से समाज की समझदारी विकसित करने की बात एक सुनिश्चित और सुलझी हुई दृष्टि के तहत करते हैं, वे अँधेरे में तीर नहीं चलाते हैं।

बालकृष्ण भट्ट साहित्य और समाज के आपसी रिश्ते की बात करते समय काफी सजग हैं। उनका ध्यान साहित्य की साहित्यिकता पर है। एक तरफ साहित्य को समाज से जोड़ना, दूसरी ओर उसकी साहित्यिकता की रक्षा, यह संतुलन ही साहित्य को साहित्य बनाता है। साहित्य आख़िर साहित्य है, वह समाज का ब्योरा देने वाला नहीं है। इसलिए वह मनुष्य के 'आभ्यन्तरिक भाव' से जुड़ता है। बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं—*''साहित्य यदि जनसमूह (Nation) के चित्त का चित्रपट कहा जाए तो संगत है। किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय-समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।''*[10] इस तरह वे साहित्य को इतिहास से अलग करते हैं। इतिहास मनुष्य के हृदय की छानबीन नहीं करता और कर भी नहीं सकता, यह काम साहित्य ही कर सकता है। 'कौम' के 'आभ्यन्तरिक भाव' से जुड़ना महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है उस भाव को समझना। साहित्य यह काम बखूबी करता है।

ध्यान देने लायक है कि बालकृष्ण भट्ट ने इस बात का संकेत दिया है कि 'कौम' का आभ्यंतरिक भाव हमेशा एक जैसा नहीं होता बल्कि उसमें बदलाव होता है। उन्होंने स्पष्ट लिखा—*''साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय-समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।''*[10] कौम के 'आभ्यंतरिक भाव' के बदलाव में सामाजिक, राजनीतिक स्थिति का योगदान होता है, क्योंकि 'आभ्यंतरिक भाव में बदलाव आकाश से तो होगा नहीं, वह होगा तो अपने समय और समाज की स्थिति-परिस्थिति के द्वारा। मुक्तिबोध ने इसी बात को ज्यादा सुलझे हुए रूप में रखा है—*''अपने युग की विशेष अवस्था होती है और उस विशेष अवस्था से उत्पन्न हुए विशेष युग होते हैं जिनका साहित्य में होना अपरिहार्य हो जाता है और ये अवस्थाएँ और ये गुण की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों से बनते रहते हैं।''*[11] बालकृष्ण भट्ट के 'समय -समय के आभ्यन्तरिक भाव' की धारणा मुक्तिबोध के यहाँ परिमार्जित रूप में विकसित हुई है।

साहित्य के द्वारा कौम के 'आभ्यंतरिक भाव' समझने की कोशिश प्रकारांतर से कौम के आभ्यंतरिक भाव को बदलने और प्रभावित करने की दृष्टि भी देता है। साहित्य को 'जनसमूह के हृदय का विकास' ही नहीं बनाना है, बल्कि युग की परिस्थिति के अनुरूप इस 'हृदय के विकास' की दिशा भी बदलनी है।

प्रो० मैनेजर पांडेय ने सही लिखा है कि—''*साहित्य समाज के परिवर्तन और विकास को प्रभावित करने वाली शक्ति है। वह सामाजिक चेतना के निर्माण और विकास में सहायक है।....साहित्य की यह सामाजिक दृष्टि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास के साथ भारतेन्दु युग में सामने आती है। इसके विकास के पीछे व्यापक स्वाधीनता-आंदोलन की प्रक्रिया में समाज से साहित्य के सम्बन्ध की नई चेतना और सामाजिक जीवन में साहित्य की सक्रिय भूमिका के बोध का महत्वपूर्ण योगदान है। इस नई दृष्टि की पहली अभिव्यक्ति बालकृष्ण भट्ट के निबंध 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है'; में मिलती है।*''[12]

साहित्य में समाज खोजने की कोशिश में बालकृष्ण भट्ट वेद, महाभारत, रामायण आदि सभी जगह अपनी दृष्टि फैलाते हैं। वेद के बारे में उन्होंने लिखा—''*हमारे पुराने आर्यों का साहित्य वेद है उस समय आर्यों की शैशवावस्था थी। बालकों के समान जिनका भाव भोलापन उदारभाव निष्कपट व्यवहार वेद के साहित्य को एक विलक्षण पवित्र माधुर्य प्रदान करते हैं, वेद जिनके हृदय की भाषा थी वे लोग मनु और याज्ञवलक्य के समान समाज के आभ्यन्तरिक भेद वर्ग विवेक आदि के झगड़ों में समाज की उन्नति या अवनति की तरह-तरह की चिंता में नहीं पड़े थे, कगाद या कपिल के समान अपने-अपने शास्त्र के मूलभूतों बीज सूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्व की छान में दिन-रात नहीं डूबे रहते थे, न कालिदास भवभूति, श्रीहर्ष आदि कवियों के सम्प्रदाय के अनुसार वे लोग कामिनी के विभ्रम-विलास और लावण्य लीला-लहरी में गोते मारमार प्रमत्त हुए थे। प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिभा देख उनके सीधे-सादे जीने बिना कुछ विशेष छानबीन किए इसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ लिया। इसके द्वारा वे अनेक प्रकार का लाभ देख कानन-स्थित विहंग-कूंजन समान कलकलरव से प्रकृति की प्रभात वन्दना का साम गाने लगे; जलभार नत श्यामला मेघमाला का नवीन सौंदर्य देख पुलकित गात्र हो कृताता-सूचक उपहार ही भांति स्त्रोत का पाठ करने लगे; वायु जब प्रबल वेग से बहने लगी तो उसे भी एक ईश्वरीय शक्ति समझ उसके शांति करने को वायु की स्तुति करने लगे इत्यादि। वे ही सब ऋक और साम की पावन ऋचाएं हो गईं।*''[13] बालकृष्ण भट्ट साहित्य के समय तक का चित्र खींचते हैं, साथ में वेद पर से अलौकिकता का आवरण हटा उसकी यथार्थवादी व्याख्या करते हैं।

साहित्य में समाज को परखने की प्रक्रिया में बालकृष्ण भट्ट रामायण और महाभारत के समय और समाज के बारे में लिखते हैं—''*रामायण के समय भारतीय सभ्यता का प्रेमोच्छ्वास-परिप्लावित नूतन यौवन था; किन्तु महाभारत के समय भारतीय सभ्यता क्षतिग्रस्त हो वार्द्धक्य भाव को पहुँच गई थी।*''[14] और आगे बालकृष्ण भट्ट रामायण और महाभारत के समय की तुलना करते हुए लिखते हैं—''*रामायण के समय से भारत के समय में लोगों के हृदय भाव में कितना अंतर हो गया था कि रामायण में दो प्रतिद्वंद्वी भाई इस बात के लिए विवाद कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्य-सिंहासन हमारा नहीं है यह सब तुम्हारे ही हाथ में रहे.....। वही महाभारत में दो दाय्याद भाई इस बात के लिए कलह करने पर सन्नद्ध हुए कि*

जितने में सुई का अग्रभाग ढँक जाय इतनी पृथ्वी भी बिना युद्ध के हम न देंगे.....''[15] इसी बात को रामस्वरूप चतुर्वेदी ने यूँ लिखा है—*''रामायण' के भाई इस बात के लिए तत्पर हैं कि दूसरा गद्दी पर बैठे, जबकि 'महाभारत' के भाई दूसरे को सूई की नोंक बराबर जमीन भी नहीं देना चाहते। क्या यह एकदम आकस्मिक है कि इन दोनों महाकाव्यों की रचना-परिकल्पना एक-दूसरे के इतने प्रतिरोध में है?''*[16] हालाँकि यहाँ बालकृष्ण भट्ट और रामस्वरूप चतुर्वेदी दोनों के संदर्भ अलग-अलग हैं। बालकृष्ण भट्ट साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति के लिए 'रामायण', महाभारत का उदाहरण देते हैं और रामस्वरूप चतुर्वेदी इन दोनों महाकाव्यों के माध्यम से 'हिन्दू मानस' के 'अंतर्विरोधों' को तलाशने के लिए।

बालकृष्ण भट्ट साहित्य में 'समाज के प्रतिबिंबन' पर इतना जोर देते हैं कि वे अपनी इस धारणा को जगह-जगह दुहराते हैं। उन्होंने 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' के बाद 'साहित्य जनसमाज के चित्र का चित्रपट है'[17] निबंध लिखा। बालकृष्ण भट्ट समाज को साहित्य के ऐंगल से और साहित्य को समाज के ऐंगल से देखते हैं। उन्होंने अपने निबंध 'साहित्य का सभ्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध' में लिखा—*''साहित्य का सभ्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वरन साहित्य सभ्यता का प्रधान अंग है । यह कभी हो ही नहीं सकता कि कोई देश सभ्यता में बढ़ जाए और साहित्य वहाँ की भाषा में पीछे हटा रहे। जो देश सभ्यता के छोर तक पहुँच पीछे गिरी दशा में आ गया है तो वहाँ का साहित्य ही उस देश की सभ्यता का नपाना होता है कि यहाँ सभ्यता ही उस देश की सभ्यता का नपाना होता है कि यहाँ सभ्यता किस सीमा तक पहुँचचुकी थी। जैसा कमल को अपने विकास के लिए सूर्य की आवश्यकता है वैसा ही सभ्यता को अपने विकास के लिए साहित्य की आवश्यकता है और सभ्यता का असर जितना अधिक देश के साहित्य पर पड़ता है और चिरस्थाई रहता है उतना किसी दूसरी बात पर नहीं। बिना साहित्य के सभ्यता वैसी ही फीकी है जैसा बिना नोन के भोजन।''*[18] इतने लंबे उद्धरण के बाद एक बात स्पष्ट है कि बालकृष्ण भट्ट साहित्य से ऊपर किसी चीज को नहीं मानते। साहित्य के बिना सभ्यता अपने असर को खो देती है, उसका कोई मतलब नहीं होता जैसे प्रेम के बिना 'पिरिथमी' झूठी पड़ जाती है। साहित्य के द्वारा सभ्यता के उत्कर्ष-अपकर्ष को परखने का मतलब है साहित्य में सभ्यता की अभिव्यक्ति को खोजना। बालकृष्ण भट्ट साहित्य और सभ्यता को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं, पर इसमें भी साहित्य का पलड़ा भारी है, क्योंकि सभ्यता का विकास साहित्य के द्वारा ही हो सकता है। सभ्यता के विकास का आधार अगर साहित्य है, तो इसका मतलब है, मनुष्य-समाज को नकारकर कोई सभ्यता विकास नहीं कर सकती।

(ख) कविता

बालकृष्ण भट्ट की आलोचना के स्वरूप पर विचार के क्रम में अगला पड़ाव कविता का है। यहाँ दृष्टि और निखर गई है तथा चिंतन और व्यावहारिक हो गया है। वे अपनी साहित्य सम्बन्धी मान्यता में

साहित्य को 'जनसमूह के हृदय का विकास' मानते हैं, उसे जनसमूह के 'आभ्यन्तरिक भाव' से जोड़कर देखते हैं और अपनी कविता सम्बन्धी मान्यता में उस 'जनसमूह' को व्याख्यायित करते हैं, परिभाषित करते हैं। कौन-सी कविता का 'आभ्यन्तरिक भाव' सच्चा है? 'ग्रामीण कविता' का या ' नागरिक कविता' का? अगर 'ग्रामीण कविता' का तो क्यों? अपने निबंध 'सच्ची कविता' में बालकृष्ण भट्ट अपनी पक्षधरता भी जाहिर करते हैं। यह निबंध आधुनिक हिन्दी कविता का शास्त्र है। यहाँ बालकृष्ण भट्ट कविता के बारे में लिखते हैं–*''कविता को हम मनुष्य के हृदयगत भाव को सत्त-एसन्स मानते हैं।''*[19] *उन्होंने कविता के बारे ऐसा कहकर जाहिर कर दिया कि कविता का मनुष्य के हृदय से जोड़ना जरूरी है, वह उसी के भाव की अभिव्यक्ति है, अगर कविता में ऐसा नहीं हो पाया तो वह खोटी होगी।*

कविता को 'मनुष्य के हृदयगत भाव का मत' होने के लिए उसे मनुष्य हृदय की 'पहचान' करना जरूरी है, इस पहचान के बिना कविता में 'असर' नहीं आ सकता। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा–''यदि पूछिए यह असर किस बात पर निर्भर है तो थोड़े ही में इसका उत्तर आपको दे सकते हैं। जिसे हम पूरा असर कहेंगे वह केवल इतने से ही होता है कि जो आपके मन में है वह आपके पढ़ने वाले या सुनने वालों के मन में भी हो जाए।''[20] बालकृष्ण भट्ट जब यह कहते हैं कि कवि के 'हृदयगत भाव' और उसकी कविता के पाठक के हृदयगत भाव में एकता ही कविता में असर पैदा करती है उसको 'सच्ची कविता' बनाती है तो इसका मतलब है कि कविता को 'बाहरी उछलकूद' नहीं मनुष्य के भीतर जो 'हलचल' हो रहा है उससे जुड़ना होगा, उसको समझना होगा, तभी कविता का 'जादू' चल सकता है।

बालकृष्ण भट्ट के सामने रीतिवादी काव्य-परम्परा की पूरी तस्वीर थी। रीतिवादी कविता में 'मनुष्य के हृदयगत भाव' के लिए जगह कम और ताम-झाम के लिए जगह ज्यादा है। यहाँ नायिका भेद, 'बाहरी नापजोख' की ओर कवि ज्यादा आकर्षित था, मनुय के स्वाभाविक वृत्ति से उसका लेना-देना नहीं था। जिस कविता में नियम-कायदे-कानून के नखरे होंगे, वहाँ मनुष्य का हृदय कैसे आ सकता है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा–*''स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अंतर होता है। हमरे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बात हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होगी और उसका असर भी सच्चा ही होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिए गए तब उसके बाहर तो हम पैर रखी नहीं सकतें।''*[21] बालकृष्ण भट्ट कविता के लिए स्वाभाविकता को जरूरी मानते हैं। स्वाभाविकता के बिना कविता का 'असर' हो ही नहीं सकता। 'नियम' से कविता का आकार और प्रकार तो बन सकता है, पर उसमें स्वाभाविकता नहीं आ सकती। कविता के बारे में बालकृष्ण भट्ट की मूल चिंता कविता में स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता के प्रश्न पर टिकी है। कवि की सहज अनुभूति ही कविता का प्राण है।

बालकृष्ण भट्ट कविता में 'बाहरी नापजोख' को त्यागने की बात करते हैं। वे कवि की सहज अनुभूति

पर जोर देने के चलते कविता की नियमबद्धता को तोड़ते हैं, क्योंकि इसके बिना वह 'कवि के हृदयगत भावों का स्वच्छ विकास' नहीं हो सकता। वे लिखते हैं—''*हिन्दी के कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुकरण कर आज तक चले आए हैं और उस ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है यह बात उनके मन में धँसती ही नहीं जिसकी उपमा हम एक छोटे से तालाब को देंगे जिसमें न कहीं से पानी का निकास है और न नया ताजा पानी उसमें भाने की आशा है तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन-दिन सड़ता ही जाए और गंदगी बढ़ती जाए क्योंकि नियमबद्ध हो जाने से गिनी-गिनी बातें उनके लिए बच रहीं उन्हीं का बार-बार पिष्टपेषण किया करें।*''[22]

बालकृष्ण भट्ट 'नियमबद्ध' कविता की सीमा बताते हैं। वे एक सुनिश्चित दृष्टिकोण के तहत ऐसा करते हैं। जब वे नियमबद्ध कविता का विरोध करते हैं, तो इसका मूल कारण है कि यहाँ स्वाभाविकता नहीं है, 'हृदयगतभावों का स्वच्छ विकास' नहीं है पर एक कारण और है। बालकृष्ण भट्ट सचेत रूप से उस मानसिकता का विरोध करते हैं, जो कविता को नियमबद्ध बनाती है, दरबारी और सामंती अभिरूचि को पुष्ट करती है। आगे बालकृष्ण भट्ट अनियमबद्ध कविता के बारे में लिखते हैं—''*और अनियमबद्ध कविता जो कवि के हृदयगत भावों का स्वच्छ विकास और पूर्ण स्वच्छंदता युक्त है उसकी उपमा हम यदि एक झरने से दें तो कुछ अनुचित न होगा। जिसका विमल जल पहाड़ी चट्टानों पर तीखेपन के साथ बहता, सूर्य की किरणों में झिलमिलाता हुआ बेरोकटोक चला जाता है.....प्रसाद और माधुर्य उनके स्वच्छ जल का स्वभाव सिद्ध है।*''[23] वे अनियमबद्ध कविता को ही सच्ची कविता मानते हैं, क्योंकि यहाँ स्वाभाविकता है। कविता का प्रधान गुण 'प्रसाद और माधुर्य' के साथ 'गाम्भीर्य' यहीं पाया जाता है। बालकृष्ण भट्ट गाम्भीर्य के बारे में लिखते हैं—''*यदि आप पूछें गाम्भीर्य आप किसे कहेंगे इसका उत्तर हम यही देंगे कि गाम्भीर्य हम उस लेख में मानते हैं जिसे ज्यों-ज्यों मन कीजिए त्यों-त्यों उसका आशय गूढ़ होता जाए और नई बातें ऐसी निकलती आवें जिसे आपकी विचार शक्ति सिवाय अंगीकार करने के उसकी सजावट को किसी तरह झनकार न कर सके।*''[24] बालकृष्ण भट्ट प्रसाद, माधुर्य, गाम्भीर्य को कविता का प्रधान गुण मानते हैं।

बालकृष्ण भट्ट को अनियमबद्ध कविता की तलाश 'ग्राम कविता' तक ले जाती है। यहाँ उनकी भावभूमि रमती है। वे लिखते हैं—''*अब आप ग्राम कविता पर ध्यान दीजिए। मल्लाहों के गीत, कहारों का कहरवा बिरहा अथवा आल्हा आदि भद्दी और केवल गँवारों की रोचक कविताएँ हैं। इनकी प्रशंसा में यदि हम कुछ करें तो नागरिक जन जो भाषा की उत्तम कविता के रसपान के घमंड में फूले नहीं समाते अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार समझेंगे। निस्संदेह वे ग्राम्य कविता है और मलार ठुमरी का स्वाद लेने वालों की दृष्टि में महाभद्दी और घृणित हैं पर इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि कविता के बँधे कायदे पर न होने से उनमें कोई गुज ही नहीं सर्वथा दूषित ही हैं।*''[25] बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि में 'नागरिक कविता' के प्रति अवहेलना का भाव है। इसका कारण उसका बनावटीपन और नियमबद्धता है। इसके विरुद्ध वे ग्राम

कविता का पक्ष लेते हैं। वे 'नागरिक कविता' के सामने 'ग्राम कविता' को अड़ा देते हैं और अंत में ग्राम कविता का पक्ष लेते हैं। वे लिखते हैं—''*अब हमारे पाठक जन पूछ सकते हैं कि आपने उसमें कौन-सा गुण पाया जो उस पर इतने लट्टू हो रहे हैं? माना वे सर्वथा दूषित और कविता के गुणों से वंचित हैं पर उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया जाता है अर्थात् उनमें चित्त की सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खींची हुई पाई जाती है और आपकी* Classic उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का जहर इसमें कहीं नहीं पाया जाता, जो यहाँ तक कृत्रिमतापूर्ण रहती है कि उसके जोड़ की एक निराली दुनिया केवल कवि जी के मस्तिष्क ही मात्र में स्थान पाए हुए है।''[26] बालकृष्ण भट्ट ग्रामीण कविता के प्रति अपनी पक्षधरता जाहिर करते हैं तो इसका तर्क यही है कि यहाँ बनावटीपन नहीं है, इसमें 'चित्त की सच्ची और वास्तविक भावना' का महत्व होता है। इनकी काव्यदृष्टि स्वच्छंतावादी काव्यदृष्टि के नजदीक है। बालकृष्ण भट्ट वर्ड्सवर्थ की तरह ग्राम कविता को महत्व देते हैं। यहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र की तरह 'ग्रामत्व' की अवहेलना नहीं है, बल्कि यही असली पूँजी है क्योंकि यहां स्वच्छंदता और स्वाभाविकता ज्यादा है। क्लासिक या उत्तमश्रेणी की कविता की जगह ग्राम कविता को तरजीह देने का मतलब है, अभिजन दृष्टि की जगह जनोन्मुख दृष्टि को तरजीह देना। क्लासिक या उत्तम श्रेणी की कविता की दुनिया कवि के मस्तिष्क तक ही सीमित होती है; उसका अपने समय और समाज से कोई मतलब नहीं होता, ऐसी कविता बालकृष्ण भट्ट को ग्राह्य नहीं।

बालकृष्ण भट्ट मानते हैं कि क्लासिक या उत्तम श्रेणी की कविता भी ग्राम कविता से निकली हुई होती है। वे लिखते हैं—''*डूब कर दूर तक सोचए तो कविता पहले ग्रामीण हुए बिना प्रचलित नहीं हो सकती और उस ग्रामीण कविता को माँजते-माँजते वही नागरिक वा उच्च श्रेणी की कविता बन जाती है।*''[27] बालकृष्ण भट्ट कविता के लिए नियम उठा लेने की बात करते हैं। वे मन की भावना के अनुकूल काव्य रचना करने पर जोर देते हैं। उन्होंने लिखा—''*एक बार यह नियम कर लिया जाए कि जिस समय जो भावना मन में उठै उसी पर काव्य लिखे जाएं और नियमबद्ध होने की कैद उठा दी जाए। देखिये कितनी स्वच्छंद अनूठी और नई कविता होती है। बल्कि हमारे देश में कविता को एक नवीन जीवन मिलेगा और कृत्रिमता का कूड़ा जो सैंकड़ों वर्ष से जमा है क्रम क्रम हटता जाएगा।*''[28] बालकृष्ण भट्ट कविता से कृत्रिमता को हटाकर उसमें 'नवीन जीवन' भरना चाहते हैं और यह नवीन जीवन 'हृदयगत भावों के स्वच्छ विकास' पर निर्भर है।

बालकृष्ण भट्ट काव्य-रचना में कल्पना-शक्ति के महत्व को स्वीकार करते हैं। कल्पना-शक्ति के द्वारा ही कवि नई-नई दुनिया सिरजता है। उन्होंने लिखा—''*कवियों का अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा के साथ होड़ करना कुछ अनुचित नहीं है क्योंकि जगत् स्रष्टा तो एक ही बार जो कुछ बन पड़ा सृष्टि निर्माण कौशल दिखलाकर आ कल्पान्त फरागत हो गए पर कविजन नित्य नई-नई रचना के गढंत से न जाने कितनी सृष्टि-निर्माण-चातुरी दिखलाते हैं।*''[29] इसी तरह बालकृष्ण भट्ट ने 'प्रतिभा' को काव्यरचना के लिए जरूरी माना। उनकी यह धारणा काव्यशास्त्रीय धारणा के नजदीक है—''*प्रतिभा बुद्धि का वह गुण और मनुष्य में*

वह शक्ति है जो स्वाभाविक होती है और अभ्यास से अधिक से अधिक बढ़ाई जा सकती है। काव्य रचना इसकी कसौटी है।''[30] उन्होंने 'प्रतिभा' को प्रसादयुग से जोड़ा। प्रसाद गुण के बिना प्रतिभा बेकार है। बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं–*''प्रतिभा का प्रसाद गुण से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कालिदास की प्रतिभा जो सबसे अधिक मानी गई है सो इसीलिए कि उनकी रचना प्रसाद गुण पूर्ण है।''*[31] वे कविता में पद-लालित्य के साथ-साथ अर्थचातुरी की माँग करते हैं–''यदि किसी काव्य में पद लालित्य के साथ-साथ अर्थ चातुरी भी हो तो उसके समान बहुत कम काव्य निकलेंगे।''[32] कविता के लिए 'अर्थ चातुरी' महत्वपूर्ण होता है, इसके अभाव में कविता बेजान है–*''जो अनुप्रास बिना प्रयास आ जाए तथा उसके द्वारा अर्थ में भी अधिक सौंदर्य बढ़ जाए तो वह सर्वथा ग्राह्य है। पर जिस अनुप्रास के पीछे अर्थचातुरी की हत्या करनी पड़े तो वह अनुप्रास किस काम?''*[33] अनुप्रास, अर्थ चातुरी को बढ़ाने वाले होते हैं अगर यही साध्य हो जाए तो वह कविता 'सच्ची' नहीं होगी। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा–*''कवियों के लेख में कविता के किसी अलंकार के शब्द केवल अस्थिमात्र हैं किन्तु उन शब्दों से सूचित भाव या रस ही वास्तव में कविता की जान है।''*[34] वे कविता में भावपक्ष की महत्ता स्थापित करते हैं। कविता के कलात्मक उपकरण उन भावों को व्यक्त करने के साधन हैं।

बालकृष्ण भट्ट कवि और चित्रकार के सम्बन्ध पर विचार करते हैं। उनके निबंध 'कवि और चितेरे की डांडाभेड़ी' से कविता और चित्रकारी के प्रतिमान उभरकर सामने आते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि कवि और चित्रकार में काफी समानता है, बस उनके कलात्मक उपकरण में असमानता हैं। बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं–*''कवि के लिए वाग् विभव और चितेरे के लिए रंग का चटकीलापन इत्यादि सो जिसके पास जैसा होगा वैसा ही वह काव्य तथा चित्र बना सकेगा। क्योंकि कवि तथा चितेरे के लिए बाह्यवस्तु, जैसा वन, नदी, पर्वत आदि के वर्णन की अपेक्षा* ***मानसिक भावों का प्रकाश*** *कविता तथा चित्र के द्वारा अधिक कठिन है। जिसे चित्रकार (Shdes) रंग की जरा सी झाईं में प्रकट कर दिखाता है उसी का प्रकट करना कवि के लिए इतना दुरूह है कि बेहद दिमागपच्ची करने पर दो चार सत्कवियों ही के काव्य में यह खूबी पाई जाती है।''*[35] कवि के लिए शब्द का महत्त्व है और चित्रकार के लिए रंग का, इस अंतर के बावजूद कवि और चित्रकार दोनों का लक्ष्य मनुष्य के 'मानसिक भावों' के प्रकाश करने पर अधिक रहता है। जगत के स्थूल रूप को दिखलाना ही काफी नहीं है। प्रकारांतर से बालकृष्ण भट्ट कविता और चित्रकारिता के लिए एक प्रतिमान बनाते हैं और वह प्रतिमान है मनुष्य के 'मानसिक भावों' का चित्रण। निश्चय ही यह बहुत बड़ी कलात्मक जिम्मेदारी है। चित्रकार के लिए तो यह एक हद तक आसान है, पर कवि के लिए दुरूह। एक के पास रंग का सहारा है, दूसरे के पास शब्द का। रंग की अपेक्षा शब्द के द्वारा 'मानसिक भावों' का चित्रण ज्यादा कठिन है। बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं–*''कवि जिस आशय या भाव को बहुत से शब्दों में लावेगा उसे चित्रकार तुलिका (रंग भरने की कूँची) के एक हल्के से झोंक (Touch) में प्रकट कर देगा और कवि के*

वर्णित आशय का स्वरूप सामने खड़ा कर देगा।''[36]

बालकृष्ण भट्ट ने एक महत्वपूर्ण संकेत दिया है कि कविता तथा चित्र के द्वारा 'मनुष्य की प्रकृति' को समझा जा सकता है। कोई किस तरह की कविता के आस्वादन को पसंद करता है तथा कोई किस तरह का चित्र पसंद करता है, इस चुनाव से उसके भावों का पता चल जाता है। उन्होंने लिखा है—*''तस्वीर तथा काव्य से मनुष्य की प्रकृति का पूरा परिचय मिल जाता है। हमारे यहाँ के अमीरों के ड्राइंग रूम में नंगी तस्वीरों का रहना फैशन में दाखिल हो गया है।.....उर्दू, फारसी के काव्यों का प्रधान अंग शृंगार रस है। आशिकी माशुकी का दास्तान जिसमें न हो वह कोई शायरी ही नहीं है।.....प्रकृति के प्रेमियों को शांति उत्पादक वन, पर्वत, आश्रम, नदी का पुलिन, ऋतु हरियाली आदि के चित्र पसंद आते हैं। उनके स्थान पर जाने से प्रायः ऐसे ही चित्र पाइएगा किसी अंग्रेजी के विद्वान का कथन है—''A picture in the room is the picture of mind of the man who hangs it अर्थात् कमरों में लटकी हुई तस्वीर लटकाने वाले के मन की तस्वीर है।''*[37]

बालकृष्ण भट्ट कविता और चित्रकारी के माध्यम से एक महत्वपूर्ण स्थापना करते हैं। उनके अनुसार यह नई सभ्यता कविता के लिए 'विष' है तथा चित्रकारी के लिए 'अमृत', इसके लिए वे तर्क देते हैं—*''सभ्यता का सूर्य ज्यों-ज्यों उठता हुआ मध्यान्ह को पहुँचता जाता है त्यों - त्यों चित्रकारी में नई नई तराश खराश की बारीकी चौगुनी होती जाती है, पर कवियों की वाग्देवी जिस सीमा को पहले जमाने में पहुँच चुकी है उससे बराबर अब तक घटती ही गई, यद्यपि हाल की सभ्यता, बुद्धि वैभव, शाइस्तगी के मुकाबले वह जमाना बहुत पीछे हटा हुआ था।''*[38] सभ्यता का विकास चित्रकारी के विकास में सहायक होता है और कविता में बाधक, ऐसा क्यों? कविता के लिए सहारा शब्द है। मनुष्य के 'मानसिक भावों' को शब्दों के माध्यम से चित्रित करना ऐसे ही कठिन है, सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के 'मानसिक भावों' का विकास भी होता है, उसमें विकृति भी आती है। और यह काम और कठिन होता जाता हैं। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—*''जब हमारा समाज बालक दशा में था, उनके लिए 'ज्ञातव्य विषय' (जानने के लायक बात) बहुत थोड़े थे। जिधर उन्होंने नजर दौड़ाया उधर ही उन्हें नये-नये जानने के योग्य पदार्थ मिलते गए। बुद्धि इनकी विमल थी, चित्त में किसी तरह का कुटिल भाव नहीं अने पाया था, क्योंकि समाज अब के समान प्रौढ़ दशा को नहीं पहुँचा था; इसलिए बहुत बातों में सभ्यता की बुरी हवा का झकोर भी उन शिष्ट पुरुषों तक न पहुंच सका था।''*[39] सभ्यता के विकास के साथ उसमें जटिलता भी आती है और इस तरह कविता की मुश्किलें बढ़ती जाती हैं। इसलिए बालकृष्ण भट्ट ने कहा कि कविता के लिए नई सभ्यता 'विष' के समान है। सभ्यता और कविता के सम्बन्ध पर महत्वपूर्ण चिंतन शुक्ल जी ने भी किया है। इसकी चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

(ग) **नाटक**

बालकृष्ण भट्ट ने 'नाटक' विधा पर अलग से विचार नहीं किया है। उनके द्वारा की गई नाटकों की आलोचना में ही नाटक के प्रतिमान उभरते हैं। हालाँकि नाटक के बारे में उन्होंने लिखा–''*जो देश सभ्यता की जितना ही अंतिम सीमा पहुँचता है वहाँ उतना ही अधिक नाटक का प्रचार पाया जाता है। श्रव्य और दृश्य दो प्रकार की कविताओं में कहने की अपेक्षा करके दिखा देने का अधिक अवसर होता है।*''[40] बालकृष्ण भट्ट कविता और नाटक की तुलना करते हैं। उन्होंने कविता और चित्रकारी में 'कविकर्म' को कठिन बताया है और वे कविता और नाटक में भी कविता को ही कठिन काम बताते हैं। कारण यह कि नाटक में 'करके दिखाना' है। वहाँ शब्द और अभिनेता तथा अन्य उपकरण साथ हैं, 'मानसिक भावों' के चित्रण की सुविधा ज़्यादा है, कविता के साथ है अकेला शब्द।

बालकृष्ण भट्ट पारसी थिएटर की आलोचना करते हैं। इस आलोचना में नाटक के बारे में एक धारणा का पता चलता है कि। उन्होंने लिखा–''*इन परिस्थितियों ने नाटक को जो सभ्य समाज का परमोत्कृष्ट विनोद था, बिगाड़कर भांड पतुरियों के तमाशों से भी विशेष कर डाला। इनके नाटकों में सिवा इश्क और आशिक-माशुकी की तरक्की के किसी तरह का सदुपदेश जो नाटकों के अभिनय का मुख्य उद्देश्य है कोई नहीं निकलता। न इनसे हम लोगों को किसी तरह की सहानुभूति है जो हमारा किसी तरह का उपकार इन तमाशों से इन्होंने कभी सोचा हो। इनको केवल रूपया कमाने से मतलब है।*''[41] बालकृष्ण भट्ट नाटक और 'तमाशा' में अंतर करते हैं। वे नाटक का मुख्य उद्देश्य किसी 'सदुपदेश' का निकालना मानते हैं। नाटक में कलात्मक ऊँचाई का होना जरूरी है। नाटक के द्वारा सस्ता मनोरंजन करना नाटक का गला घोंटना है। वे नाटक से भाषा की उन्नति करना चाहते हैं। उन्होंने लिखा–''*न इनके नाटक से हमारी भाषा ही की कुछ तरक्की है हिन्दी कुछ सरोकार नहीं, उर्दू में अभियन करते हैं, सो भी भ्रष्ट उर्दू, न जिसका मुहाविरा सही न लब्जों में किसी तरह का मजा, केवल चमक-दमक और नाचरंग से लोगों का मन मोह लेते है।*''[42] बालकृष्ण भट्ट नाटक को भाषा के विकास का माध्यम मानते हैं। इसका कारण है कि नाटक जितना सुगम और सुरूचिपूर्ण तरीके से जन-जीवन से जुड़ता है उतना अन्य साहित्य विधाएँ नहीं। वे नाटक से लोगों की 'तबियत' बदलने की सोचते हैं। उन्होंने लिखा–''*नाटकों से हम लोगों का यत्न यह था कि लोगों की तबियत ऐसे बेहूदा खेल तमाशों से रोक सुसभ्य विनोद की ओर रजू करते सो इन पारसियों ने चौपट कर डाला। अब इनकी चमक-दमक के आगे हमारे शिक्षा सम्मिलित नाटक क्यों कर किसी को रूच सकते हैं।*''[43]

'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' के क्रम में नाटक के बारे में निम्न प्रतिमान उभरते हैं–

I. नाटक में ऐतिहासिकता के निर्वाह के लिए उस समय मात्र के भाव Spirit of Times' को समझना चाहिए।

II नाटक में पात्रों के 'व्यक्ति' (Characterizations) पर ध्यान चाहिए।

III 'पांडित्य' प्रदर्शन नहीं वरन मनुष्य के हृदय की 'गाढ़ी' पहचान होनी चाहिए।

IV पात्रों के संवाद चरित्र के अनुकूल होना चाहिए।

V चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता होनी चाहिए।

बालकृष्ण भट्ट की नाट्य-दृष्टि का यही मूल आधार है। उनकी व्यंग्यात्मकता उनकी नाट्य दृष्टि को और धारदार बना देती है।

(घ) उपन्यास

बालकृष्ण भट्ट ने उपन्यास विधा के विवेचन का प्रयास किया है। इस क्रम में उनका निबंध 'उपन्यास' (हिन्दी प्रदीप, जनवरी, 1883) महत्वपूर्ण है। उन्होंने इस लेख में प्राचीन भारतीय साहित्य में उपन्यास की प्रवृत्ति खोजने की कोशिश की है। बालकृष्ण भट्ट मानते हैं कि यहाँ उपन्यास लिखने का प्रचलन नहीं था। वे लिखते हैं–*''नोवेल के ढंग का गद्य काव्य लिखने का तरीका प्राचीन संस्कृत लिखावट में न था, कुछ-कुछ इस क्रम का लेख चम्पू है पर चम्पू निरा गद्य काव्य नहीं है।''*[44] वे 'कादम्बरी' आख्यान को अंग्रेजी नोवेल के क्रम का बताते हैं, पर मोहवश ही–*''अंग्रेजी नोवेल के ठीक-ठीक क्रम का कादम्बरी आख्यान है, जिसमें सांगोपांग गुण उपन्यास के मिलते हैं, क्या भया जो संस्कृत में उपन्यास नहीं है एक कादम्बरी उस न्यूनता को भरपूर पूर्ण करती है।''*[45] आगे उनका मोहभंग होता है और बिल्कुल ही सधे और सटीक अंदाज में कहते हैं–*''हम लोग जैसा और-और बातों में अंग्रेज़ी का नकल करते जाते हैं वैसा ही उपन्यास का लिखना भी उन्हीं के दृष्टांत पर सीख रहे हैं।''*[46] बालकृष्ण भट्ट इस स्वीकार के साथ 'उपन्यास' के स्वरूप को समझने की कोशिश करते हैं। वे इतना तो मानते हैं कि 'उपन्यास' एक आधुनिक विधा है और वह अंग्रेजी साहित्य से हमारे यहाँ आई है। वे मानते हैं कि–*''नोबेल प्रौढ़ बुद्धि वालों के लिए लिखे जाते हैं न कि निरे स्कूलों में 'क' 'ख' सीखने वालों के लिए''*[47] और आगे बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं–*''उपन्यास तो प्रौढ़बुद्धि युवाजनों के मन रमाने वाली गुटिका है जिनका मुख्य अंग शृंगार रस है इसी कारण यह* Immord असत् काव्य समझा जाता है बिना जिसके यह ऐसा भासित होता है जैसा सर्वांग सुन्दरी रमणी की किसी ने नाक काट लिया हो।''[48] उनके अनुसार, उपन्यास प्रौढ़ बुद्धि वालों के लिए है। बालकृष्ण भट्ट उपन्यास का मुख्य अंग या उसका 'नाक' शृंगार-रस को मानते हैं और इसी कारण वे उपन्यास को 'असत् काव्य' घोषित करते हैं। उपन्यास 'असत् काव्य' भले हो, पर उससे एक शिक्षा तो निकलनी ही चाहिए और वह शिक्षा उपन्यास की घटनाओं, चरित्र-चित्रण से निकले। बालकृष्ण भट्ट का यह संकेत निश्चय ही महत्वपूर्ण है–*''नोवेल Immoral असत् उपदेशक होकर भी बुरे और भले पात्रों के चरित्र का बराबर में मुकाबिला करते अंत में भले पात्रों को उपन्यास के किस्से का मुख्य नायक बयान एक ऐसी भारी*

शिक्षा उसमें से निकल आती है कि वह उसके समस्त असत् लेख को ढाँप लेती है।''[49] स्पष्ट है कि बालकृष्ण भट्ट उपन्यास में शृंगार वर्णन आदि को साधन मानते हैं। उनका साध्य है उसमें से निकली हुई शिक्षा। और यह शिक्षा थोपी हुई न हो, बल्कि उपन्यास से निकले। इसी आधार पर उन्होंने लालाश्रीनिवास दास के उपन्यास 'परीक्षा गुरू' की आलोचना की है। यहाँ उपदेशात्मकता की भरमार है, और वह थोपी हुई है, वह चरित्रों की बनावट या घटना-संघटन के माध्यम से सामने नहीं आई है। बालकृष्ण भट्ट 'परीक्षा गुरू' के बारे में लिखते हैं–*''ग्रंथकर्ता महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रकट करना था तो गुलदस्ते चखलाक या विद्याकुंर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते.....बँदिश परीक्षा गुरू की निस्संदेह उत्तम है पर इसकी भाषा की रूखाई और निरा उपदेश वाक्य पढ़ते-पढ़ते जी ऊब जाता है।''*[450] इसप्रकार उन्होंने अपने इस निबंध में 'परीक्षा गुरू' के उदाहरण के द्वारा अपनी उपन्यास-सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट किया है।

2. व्यावहारिक आलोचना

बालकृष्ण भट्ट कविता, नाटक, उपन्यास और साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं को ही नहीं गढ़ते बल्कि समसामयिक साहित्य की आलोचना भी करते हैं और आलोचना की सफलता यही है। सैद्धांतिक विवेचन साहित्य को एक दिशा दे सकता है, पर रचनात्मक साहित्य से लगाव ही आलोचना का अंतिम लक्ष्य होता है। बालकृष्ण भट्ट ने इसका ध्यान रखा है। वे साहित्य, कविता आदि के सम्बन्ध में प्रतिमान बनाते हैं, पर वे इन प्रतिमानों को रचनात्मक साहित्य पर थोपते नहीं। बालकृष्ण भट्ट सिद्धान्त से व्यवहार और व्यवहार से सिद्धांत की ओर लगातार आवाजाही करते रहते हैं। संस्कृत काव्य शास्त्र से अलग उनका काम है। यहाँ सिद्धान्त व्यवहार भी है। सिद्धान्त और व्यवहार की 'डांडा भेड़ी' में ही साहित्य, कविता, नाटक, उपन्यास सम्बन्धी प्रतिमान उभरकर सामने आते हैं। वे रचना से सिद्धांत निकाल लेते हैं और आलोचना का काम भी यही है कि वह रचना से सिद्धांत निकाले। बालकृष्ण भट्ट के द्वारा की गई 'परीक्षा गुरू', 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से इस बात को समझा जा सकता है।

हिन्दी आलोचना में व्यावहारिक आलोचना का पट बालकृष्ण भट्ट के द्वारा खुलता है और इस क्रम में 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची आलोचना' सामने आती है। यह हिन्दी की पहली व्यवस्थित आलोचना है। 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना एक खास अंदाज में प्रश्न पूछने से शुरू होती है–*''लाला जी यदि बुरा न मानिये तो एक बात बापे धीरे से पूछै वह यह है कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे? क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने ही से वह ऐतिहासिक हो गया? क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने से ही वह लेख ऐतिहासिक हो जाएगा?''*[51] बालकृष्ण भट्ट के ये प्रश्न 'लालाजी' से जितने हैं उससे ज्यादा ऐतिहासिक रचना के प्रतिमान से हैं। रचना के

ऐतिहासिक होने के लिए उसमें किसी प्रसिद्ध राजा-रानी का आना ही काफी है तो और बात है। वे इस धारणा का खंडन करते हैं—*''यदि ऐसा है तो गद्य हाँकने वाले दस्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा।''*[52] साहित्य साहित्य होता है, गप्प हाँकना साहित्य-सर्जन नहीं है।

'किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर' नाटक लिखने से वह ऐतिहासिक नहीं होता, उसमें प्रसिद्ध राजा-रानी के आने से भी नाटक में ऐतिहासिकता नहीं आती, तो सवाल है कि कोई रचना किन तत्वों को अपने भीतर समावेशित करे, जिससे उसकी ऐतिहासिकता 'सच्ची' हो? इसका जवाब बालकृष्ण भट्ट ने दिया है—*''किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी उसके आभ्यंतरित भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात् उस समय मात्र के भाव Spirit of times* क्या थे? इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उसके दरसाने का भी यत्न नाटकों के द्वारा कीजिए।''[53] मतलब ऐतिहासिक रचना के लिए लेखक में इतिहासबोध का होना बहुत जरूरी है, इसी के सहारे वह समय के 'भाव' को समझ सकता है। रचना में ऐतिहासिकता के निर्वाह के लिए उस समय के लोगों के 'हृदय की दशा' को समझना जरूरी है। इतिहास का स्थूल चित्रण कर देने से कोई रचना ऐतिहासिक नहीं हो जाती। बालकृष्ण भट्ट मानते हैं कि ऐतिहासिक रचना की सफलता वर्तमान अर्थवत्ता में है। वे जब इतिहास में Spirit of times को पकड़ने की माँग करते हैं, तो प्रकारांतर से इस धारणा को भी रखते हैं कि ऐतिहासिक रचना के लेखक वर्तमान के Spirit of times को भी समझें, क्योंकि वर्तमान की समझदारी के बिना इतिहास की समझदारी और इतिहास की समझदारी के बिना वर्तमान की समझदारी पुष्ट नहीं हो सकती और ऐतिहासिक नाटक या रचना के लिए भाषा का भारीपन ही काफी नहीं है। 'बालकृष्ण भट्ट भाषा के आधार पर भी रचना की ऐतिहासिकता समझने की कोशिश करते हैं। उन्होंने लिखा—*''केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने ही से तो एक ऐतिहासिक नाटक के पात्र क्या वरन एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते।''*[54]

नाटक की ऐतिहासिकता के क्या प्रतिमान हो, इससे जूझने के बाद बालकृष्ण भट्ट 'संयोगिता स्वयंवर' पर केन्द्रित होते हैं। वे मानते हैं कि नाटक में पात्रों की व्यक्ति (Characterizations) में भिन्नता होनी चाहिए, इसी से नाटक में जान आती है। अगर सभी पात्र एक जैसे हों, तो वह नाटक कैसा? बालकृष्ण भट्ट 'संयोगिता स्वयंवर' में पात्रों के चरित्र में एकरसता पाते हैं। वे लिखते हैं—*''हमने जहाँ तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति (Characterizations) के भिन्न-भिन्न होने ही से नाटक की शोभा देखा कर आपके पंत्र सबके सब एक ही रस में सने उपदेश देने की हवस में लथर-पथर पाए गए और उस इसमें आपही की विधा के प्रकाश का जहर भरा है।''*[55] नाटक में पात्रों द्वारा उपदेश देने की प्रवृत्ति नाटक का गला घोंटना है। रचनाकार को पात्रों पर हावी नहीं होना चाहिए। नाटक रचनाकार ही लिखता है, पर वह नाटक में जितना छिपा रहे नाटक का उतना भला होता है। वह पात्रों के द्वारा मनुष्य के कार्य-व्यापार को दिखाता है, उसकी

मानसिक दशाओं को पकड़ने की कोशिश करता है। बालकृष्ण भट्ट नाटक को 'सत्संग सभा' से अलग समझते हैं, जहाँ उपदेश नहीं मनुष्य के जीवन को दिखाना होता है, उसी में रमना होता है। वे लिखते हैं—*''नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपका कितना गाढ़ा परिचय यह दरसाना चाहिए।''*[56] पर 'संयोगिता स्वयंवर' में तो स्थिति ही अलग है, यहाँ हर पात्र में पांडित्य-प्रदर्शन करने की ललक है—*''आपके नाटक में राजा, मंत्री, कवि यहाँ तक कि संयोगिता बेचारी भी अपना पांडित्य ही प्रकाश करने के यत्न में हैरान हो रहे हैं। भला बताइए यह कौन-सा ढंग भावों के दरसानें का है? कविता के मीठे रस के बदले नैयायिकों की तरह कोरा तर्क-वितर्क करना भाव का गला घोंटना है कि और कुछ?''*[57] नाटक का कारोबार पांडित्य प्रदर्शन, कोरे तर्क-वितर्क से नहीं चलता, उसे मनुष्य के हृदय को समझना होता है और यह स्वाभाविक है क्योंकि जो साहित्य को 'जनसमूह' के हृदय का विकास' मानता हो वह नाटक या अन्य साहित्यिक विधाओं में मनुष्य के हृदय को परखने के बजाय पांडित्य-प्रदर्शन को कैसे स्वीकार कर सकता है। नाटक का काम 'लेक्चर' देना नहीं है। बालकृष्ण भट्ट व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—*''आप एकता सच्ची प्रीति आदि विषयों पर पात्रों के मुख से लेक्चर दिया चाहते हैं तो एक सलाह मेरी है उसको सुनिये। इस नाटक को काट-छांट कर इसमें से आठ-दस (पैंफलेट) छोटे-छोटे गुटके छपवा दीजिए।''*[58] इस नाटक में संयोगिता और पृथ्वीराज दो मुख्य पात्र हैं। इनमें 'लेक्चर' देने की प्रवृत्ति तो है, साथ ही दोनों आत्मप्रशंसा में डूबे हुए हैं। दोनों पात्रों के चरित्र अविकसित हैं, इनके मुख से पांडित्य प्रदर्शन एवं आत्म-प्रशंसा कराने के चक्कर में इनका चरित्र विकसित नहीं हो पाया है। बालकृष्ण भट्ट की पैनी दृष्टि इस ओर जाती है। वे लिखते हैं—*''लालाजी आप यह नहीं सोचते कि किसी पुरुष का चरित्र या व्यापार कितनी ही प्रशंसा करने के योग्य क्यों न हो यदि वह आप खुद अपनी दशा की समालोचना करके डींग मारना आरंभ करेगा तो उससे बढ़कर घृणित और कुत्सित और कौन दूसरा होगा।''*[59]

बालकृष्ण भट्ट ने 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक के असहज संवाद की ओर भी ध्यान दिलाया है। संवाद की सहजता नाटक के लिए जरूरी है। यह पात्रों के चरित्र के अनुकूल होनी चाहिए। अगर संवाद ही असहज हो, तो उस नाटक का चरित्र सहज कैसे हो सकता है? जिस संवाद पर मनुष्य ही सहज वृत्ति की जगह पांडित्य और आत्मप्रशंसा का दबाव हो, वहाँ सहजता कहाँ होगी? उन्होंने लिखा—*''मनुष्य के बदले आपके नाटक पात्रों को नीरस और रूखे से रूखे अर्थातर न्यास गढ़ने की कलंक कहें तो अनुचित न होगा?''*[60]

इस तरह 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' पूरी होती है। बालकृष्ण भट्ट बिल्कुल सहज और बातचीत की शैली में इस नाटक की आलोचना करते हैं और इसकी सीमा दिखाते हैं, साथ में नाटक के कई प्रतिमान इस नाटक के माध्यम से उपस्थित करते हैं। क्या यह संयोग मात्र है कि यहाँ बालकृष्ण भट्ट की शैली व्यंग्यपूर्ण हो गई है? दरअसल व्यंग्य ही 'सच्ची समालोचना' को धारदार बनाया है।

बालकृष्ण भट्ट 'बंगविजेता' की आलोचना के क्रम में उसमें ऐतिहासिक रचना का पूरा तत्व पाते हैं। यहाँ उन्होंने लिखा–''*एक तो यह उपन्यास ही अति प्रशंसनीय है दूसरे हमारे सुयोग्य मित्र ने इसका अनुवाद भी बहुत उत्तम साधु भाषा में किया है। लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' ऐतिहासिक नाटक के पक्षपातियों को चाहिए एक बर इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ै तो उन्हें सूझने लगे कि ऐतिहासिक लेख कैसे होने चाहिए।*''[61] इस उपन्यास का अनुवाद अच्छा है, इस सूचना के साथ बालकृष्ण भट्ट एक और महत्वपूर्ण काम करते हैं। वह यह कि 'संयोगिता स्वयंवर' को ऐतिहासिक नाटक कहने वालों को ऐतिहासिकता का तत्त्व इस उपन्यास के माध्यम से दिखाने की कोशिश करते हैं। यह आलोचना है छोटी, पर करती है बड़ी बात।

बालकृष्ण भट्ट 'संयोगिता स्वयंवर' के विपरीत लाला श्रीनिवासदास के ही नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' में नाटक की विशेषता को पाते हैं और इसलिए वे इसकी तारीफ करते हैं। उन्होंने इस नाटक को 'ट्रेजेडी किस्म' का पहला नाटक बताया है। बालकृष्ण भट्ट इस नाटक के बारे में लिखते हैं–''*ट्रेजेडी के किस्म का यह पहला नाटक है जो हिन्दी भाषा में रचा गया है। इसमें शृंगार, हास्य और करुण ये तीनों रस उत्तम रीति से निबाहे गए हैं। बीच-बीच में सदुपदेश और लोकोक्ति इस ढंग से रची गई है जिससे उन रसों में मानो जान पिरोह दी गई हो। रणधीर और प्रेममोहिनी का प्रेम, रिपुदमन का सच्चा मैत्री भाव, जीवन की स्वामिभक्ति, नाथूराम का माड़वारियों का सा बनिया पन, सुखवासी लाल की स्वार्थपरता सब कुछ अच्छी तरह से इसमें दिखाई गई है।*''[62] बालकृष्ण भट्ट इस नाटक में पात्रों के चरित्र में स्वाभाविकता एवं विभिन्नता को पाते हैं। सभी पात्र अपनी चरित्रगत विशेषताओं को लिए हुए हैं, साथ में हास्य, शृंगार और करुण रस का निर्वाह भी ठीक से किया गया है। वे इन आधारों पर 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक की तारीफ करते हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि बालकृष्ण भट्ट ने रचना से ही किस तरह आलोचना का प्रतिमान निकाला है। वे इन प्रतिमानों पर 'संयोगिता स्वयंवर' के चरित्र को खरा नहीं पाते हैं और उसकी आलोचना करते हैं।

बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु रचित 'नीलदेवी' नाटक पर विचार करते हैं। हालाँकि यह प्रशंसात्मक है, पर कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु उभरकर सामने आते हैं। वे इस नाटक के बारे में लिखते हैं–''*यह छोटा-सा ग्रंथ इतना उत्तम है कि समालोचना द्वारा जहाँ तक इसके गुण दरसाते बन पड़े दरसाए जाएँ; औअल तो यह, हिन्दी भाषा में यह नाटक* original किसी का अनुवाद कर नहीं लिखा गया, दूसरा इसका विषय तथा छंदगान जो इसमें हैं ऐसे उत्तेजक हैं जिसे पढ़ कौन ऐसा कायर होगा जिसका जी न फड़क उठे; अलबत्ता नाटक या उपन्यास इस ढंग से लिखे जाँय तो रसिकों के लिए भरपूर विनोद तथा हिन्दी भाषी और देश को बड़ा लाभ पहुँचा सकते हैं जो बात केवल हरिश्चन्द्र ही की विचित्र लेख शक्ति है.....वर्तमान समय का सब चित्र इसमें चित्रित किया गया है।''[63] बालकृष्ण भट्ट रचना से देश लाभ माँग करते हैं, साथ ही

उसमें 'वर्तमान समय का सब चित्र' होना चाहिए, मतलब रचना को अपने समय और समाज से जुड़ना चाहिए।

भारतेन्दु युग में मौलिक नाटक लिखे गए, साथ में अन्य भाषाओं के नाटकों के अनुवाद भी हुए। बालकृष्ण भट्ट इन सब रचनाओं पर नजर रखते हैं। संस्कृत के नाटक 'मुद्राराक्षस' का भारतेन्दु ने हिन्दी में अनुवाद किया था। बालकृष्ण भट्ट इस नाटक के बारे में लिखते हैं—''*राजनीति की काट छाँट दिखलाने को यह नाटक एक ही है कि हिन्दुस्तान के अद्वितीय Politician राजनीतिज्ञ चाणक्य की राजनीति कौशल का सब मर्म इस दृश्य काव्य के द्वारा सांगोपांग पूरी तरह प्रकट किया गया है। बाबू साहब ने बड़े परिश्रम से भाषा भी इसकी ऐसी उत्तम और संस्कृत से जिसका यह अनुवाद है इतनी मिलती हुई लिखा है कि कदाचित दूसरे किसी से असंभव था, इस नाटक का विषय इतना कठिन और उबियाऊ है कि किसी नौसिखिया भाषा लेखक कृत अनुवाद होता तो और भी साधारण पाठकों के अरोचक और निरस जचता।*''[64] बालकृष्ण भट्ट ने 'मुद्राराक्षस' की प्रशंसा भाषा के आधार पर की है। उन्हें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि इस नाटक का Plot 'कठिन और उबियाऊ' है।

अनुवादित नाटकों पर विचार के क्रम में बालकृष्ण भट्ट ने शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिकम' पर विचार करते हैं। इस नाटक का अनुवाद प्रो० पं० गदाधर ने किया था। बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं—''*अन्यान्य दृश्य काव्यों की अपेक्षा इस नाटक की रचना बहुत सुललित और सदुपदेशपूर्ण है; प्राचीन समय की रीति नीति, साधारण मनुष्यों के बोलचाल का ढंग, भले ही आदमी दुर्गति में फंस कैसे उद्धार पाते हैं.....न्याय कचहरी दरबारों में किस तरह किया जाता था इन सब बातों का वर्णन इसमें उत्तम रीति से किया गया है. .....शब्दार्थों का ठीक-ठीक अनुवाद कर दिया गया है और ठीक-ठीक संस्कृत श्लोक भी रख दिए गए हैं।*''[65] दो कारणों से बालकृष्ण भट्ट इस नाटक की प्रशंसा करते हैं। पहला, यह कि इसमें अपने समय का चित्रण ठीक ढंग से किया गया है, दूसरा इसका अनुवाद सटीक एवं सही है। बालकृष्ण भट्ट रचना में अपने समय को पकड़ने पर जोर देते हैं। वे रचना में अपने समय और समाज के चित्रण पर जोर देने के चलते इस बात को बार-बार दुहराते हैं। उनके द्वारा की गई ऐसी आलोचनाएँ छोटी और प्रशंसात्मक हैं, पर इस बात पर गौर किया जा सकता है कि बालकृष्ण भट्ट की प्रशंसा हवाई नहीं है, बल्कि उसका एक आधार है।

बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु के सैद्धान्तिक निबंध 'नाटक' पर अपनी राय जाहिर करते हैं। वे इसके बारे में लिखते हैं—''*इसमें नाटक के अंग उपांग नाटक बनाने की विधि, उसके गुण-दोष प्राचीन नाटकों की संक्षिप्त समालोचना, आधुनिक हिन्दी नाटकों का गुण-दोष निरूपण तथा योरोपीय भाषा के नाटकों का विचार बड़े पांडित्य के साथ प्रगट किया गया है। अतएव इस छोटी-सी पुस्तक को हम नाटक की मंजूषा*

कहें तो उचित है। बिना इस पुस्तक को अच्छी तरह पढ़े नाटक बनाने का हौंसला निरा उजडुपन और जो नाटक पढ़ने के शौकीन हों उनके लिए तो यह मानो एक दिव्य नेत्रांजन है।'[66] बालकृष्ण भट्ट की यह प्रशंसा गलत नहीं थी। नाटक के बारे में भारतेन्दु का यह सैद्धान्तिक विवेचन हिन्दी नाटक-रचना और आलोचना के लिए सचमुच महत्त्वपूर्ण है।

बालकृष्ण भट्ट नाटकों पर ही केन्द्रित नहीं रहते, बल्कि वे साहित्य की अन्य विधाओं पर भी विचार करते हैं। इस क्रम में उन्होंने लाला श्रीनिवासदास के उपन्यास 'परीक्षागुरू' की आलोचना करने का प्रयास किया है। वे 'परीक्षागुरू' के बारे में लिखते हैं–*''इस उपन्यास की भाषा और 'प्लॉट' बन्दिश दोनों बहुत कुछ सराहने के योग्य है। ग्रंथकर्ता ने अंग्रेजी, फारसी, संस्कृत और विज्ञान में अपनी लियाकत जहाँ तक हो सका है भरपूर इसे प्रकट किया है, पर न जानिये क्यों हमें इस लेख में एक प्रकार का रूखापन जँचता है। पदों का वह लालित्य और माधुर्य नहीं आया जैसा बाबू हरिश्चन्द्र के लेख में होता है। नाटक वा उपन्यास के प्रधान अंग शृंगार, हास्य कभी-कभी वीर और करुणा होते हैं, सो उन सबों का इसमें कहीं झलक नहीं है।*....Novel writing उपन्यास सम्बन्धी लेख और विज्ञान तथा नीति से क्या सरोकार। बहुत लोग नोवेल जैसा मिस्टरीज आदि किताबें हैं उनका पढ़ना बुरा समझते हैं और उपन्यासों को 'इस्मारल' असत् उपदेशक कहकर बदनाम कर रक्खा है, पर सच पूछो तो बुराइयों का परिणाम दिखाकर अपनी लेख शक्ति के द्वारा पढ़ने वाले का जी आकर्षण करते जैसा संस्कृत में कादम्बरी है। अन्त को एक अपूर्व उपदेश निकालना उपन्यास में है सो बातें इसमें नहीं पाई जाती; अस्तु फिर भी जहाँ कोई पेड़ नहीं वहाँ रेड़ ही रूख। हिन्दी में अब तक कोई उपन्यास नहीं छपे इसलिए अवश्य उत्तमोत्तम है।[67] बालकृष्ण भट्ट 'परीक्षा गुरू' की भाषा एवं 'प्लॉट' के चलते तारीफ करते हैं। इस उपन्यास में अन्य बातों की कमी है। वे इस कमी को उजागर करते हैं। बालकृष्ण मानते हैं कि उपन्यास में नाटक की तरह ही शृंगार, हास्य, करूण, वीर रस का आना चाहिए। वे उपन्यास में विज्ञान तथा नीति की चर्चा को बेकार समझते हैं। बालकृष्ण भट्ट ने 'परीक्षागुरू' की चर्चा के क्रम में यह बात रखी है कि उपन्यास को 'असत् उपदेशक' कहकर बदनाम करना ठीक नहीं। इस 'असत् उपदेशक' की महत्ता इस बात में है कि इससे कोई महत्त्वपूर्ण शिक्षा निकले। यह शिक्षा उसके समस्त 'असत लेख' को ढँक लेती है। और अंत में, बालकृष्ण भट्ट उपन्यास लेखन की कमी की ओर जाते हैं और व्यंग्य करते हुए कहते हैं–*'चूँकि हिन्दी में कोई उपन्याास नहीं है इसलिए यह 'उत्ततोत्तम' है।' यह व्यंग्य 'परीक्षागुरू' से ज्यादा हिन्दी में उपन्यास-लेखन की कमी पर है।*

बालकृष्ण भट्ट ने बंग्ला से अनुवादित 'हमीदा' उपन्यास के बारे में लिखा है–'इस समय इसे पढ़ लोग स्वेदशानुराग और स्वधार्मानुराग क्या वस्तु है। सो जाने। इस पुस्तक को पढ़ने से मालूम हो जाता है कि एक जंगली अफरीदी जाति में भी कितना अधिक स्वदेशानुराग और स्वधर्मानुराग है। यहाँ सभ्यता का दंभ भरने वालों में भी जो दुर्लभ है।'[68] बालकृष्ण भट्ट ने इस उपन्यास की प्रशंसा 'स्वदेशानुराग और

स्वधर्मानुराग' की प्राथमिकता देने के चलते किया है। उनकी इस प्रशंसा में इस बात की माँग है कि रचना को 'स्वदेशानुराग और स्वधर्मानुराग' से भी जुड़ना चाहिए।

बालकृष्ण भट्ट देवकीनंदन खत्री के पत्र 'उपन्यास लहरी' पर विचार के क्रम में लिखते हैं—''*इस नाम का पत्र काशी से बाबू देवकीनंदन खत्री द्वारा प्रकाशित हो रहा है जिसमें चन्द्रकांता सन्तति अर्थात् चन्द्रकांता के लड़कों का ड़ाल छप रहा है। यह उपन्यास बहुत बड़ा है। अब तक इसके आठ भाग छप चुके हैं। उपन्यास की बंदिश और उठान बहुत अच्छी पढ़ने लायक है। उक्त बाबू साहब ने इसमें कूट-कूट संस्कृत शब्द नहीं भरे बल्कि क्लिष्ट संस्कृत शब्दों के बदले मुहाविरे की सबकी समझने लायक उर्दू को विशेष आदर दिया है। उचित था कि उर्दू के बदले सुललित ठेठ हिन्दी का प्रयोग करते पर क्रम कुछ ऐसा ही है कि लेखक पाठक की रूचि के अनुसार लेख लिखता है। जब रूपया पैदा करने के ख्याल से पुस्तक लिखी जाती है तो मातृभाषा की कोरी भक्ति अलग रख दी जाती है।*''[69] बालकृष्ण भट्ट ने 'चन्द्रकांता सन्तति' की तारीफ इसकी बंदिश और उठान के आधार के आधार पर की है। भाषा भी अच्छी है, इसका कारण है कि यहाँ संस्कृत शब्दों की भरमार नहीं है। हालाँकि बालकृष्ण भट्ट ने इस उपन्यास की भाषा के बारे में लिखा है कि यहाँ सबके समझने लायक उर्दू भाषा को जगह दी गई है, पर फिर भी उन्हें यह खटकता है। उनका हिन्दी गद्य से प्रेम इस कदर है कि वे सबके समझने लायक उर्दू को भी नकार देने की बात करते हैं और उसकी जगह 'ठेठ हिन्दी' भाषा के प्रयोग की सलाह देते हैं। भाषा हिन्दी हो या उर्दू, अगर वह सबके समझने लायक है तो उसे अपनाने में हर्ज नहीं होना चाहिए। पर बालकृष्ण भट्ट की भाषाई प्रगतिशीलता को इस अर्थ में तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वे संस्कृत की जगह सबकी समझ में आने वाली उर्दू को तरजीह देते हैं।

भारतेन्दु युग में विदेशी साहित्य को हिन्दी में अनुदित करने का काम किया गया। इस क्षेत्र में श्रीधर पाठक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने गोल्डस्मिथ की 'हरमिट' का अनुवाद खड़ी बोली में 'एकांतवासी योगी' नाम से किया था। बालकृष्ण भट्ट इस 'एकांतवासी योगी' के बारे में लिखते हैं—''*विशेष प्रशंसा के योग्य वह नवीन रचना इसलिए है कि अंग्रेजी में जो पद्य था उसका अनुवाद भाषा के पद्यों में ही किया गया है। जहाँ-जहाँ जितना ग्रंथकार ने अपनी ओर से मिलाया है वह भाग अधिक रसीला और माधुर्यपूर्ण है। हमारे मित्र पाठक महाशय ने अपने इस परिश्रम से हमें यह अच्छी तरह जता दिया कि कविता के पश्चिमी संस्कार (Western Idea) कभी हमारे लिए दिलचस्प और मनोरंजक नहीं हो सकते।*''[70] बालकृष्ण भट्ट ने यहाँ रचना के अनुवाद के प्रसंग में एक महत्वपूर्ण सच को जाहिर किया है। रचना के अनुवाद के समय अपने परिवेश को नहीं भूलना चाहिए। हर रचना में अपने परिवेश की छाप होती है। उसे अगर हुबहू उसी तरह ला दिया गया तो रचना के आस्वादन में बाधा आएगी। किसी विदेशी रचना के अनुवाद के समय तो इसका और ध्यान रखना चाहिए।

भारतेन्दु युगीन आलोचना में हिन्दी साहित्य की आदिकालीन और भक्तिकालीन रचना का परिदृश्य लगभग गायब है। कहीं-कहीं कबीर और सूर आदि कवियों के बारे में विवेचन मिलता है। बालकृष्ण भट्ट का ध्यान हिन्दी साहित्य के आदिकाल की महत्वपूर्ण रचना 'पृथ्वीराजरासो' की ओर गया है। वे इसके बारे में लिखते हैं—*''पढ़ने वालों को इसमें किसी प्रकार का रस नहीं मिल सकता, इसकी अटपटी कविता और ऊबड़-खाबड़ शब्दों में न जानिये क्या ऊटपटांग बात गाई गई है कि इसकी दस लैन पढ़ने सी जी ऊब जाता है और फिर इस पुस्तक को छूने का मन नहीं चाहता। हम तो जानते हैं कि इसके प्रेमी मोहनलाल पंडया और बाबूश्याम सुंदरदास को भी इसका भावार्थ नहीं खुला, यदि खुला होता तो उस पर कुछ टिप्पणियां या तिलक अवश्य करते।''*[71] बालकृष्ण भट्ट 'पृथ्वीराज रासो' में रस का अभाव पाते हैं; इसका भावार्थ खोलना बहुत कठिन है, इस आधार पर वे 'पृथ्वीराज रासो' की सीमा दिखाते हैं। वे इस बात को रेखांकित करते हैं कि रचना में भावों की क्लिष्टता नहीं होनी चाहिए? बालकृष्ण भट्ट रचना में भाव और भाषा दोनों के स्तर पर सहजता लाना चाहते हैं।

बालकृष्ण भट्ट ने उन अनेक रचनाओं पर विचार किया है, जो उस युग में प्रकाशित हो रहे थे। इन रचनाओं पर की गईं सभी टिप्पणियों की चर्चा करना जरूरी नहीं है, पर उनमें कुछ महत्वपूर्ण हैं, जिनसे बालकृष्ण भट्ट की आलोचना दृष्टि का पता चलता है। 'चातुर्यतार्णव' नाम की एक पुस्तक, जिसके लेखक बाबू रतनचन्द बी० ए० थे, के बारे में बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—*''इस पुस्तक का लेख सच-सच चातुर्य तार्णव है। यह पुस्तक नौ लेखों में विभक्त है। इसमें कहीं-कहीं कहानी के ढंग पर बातें लिखी गई हैं, कहीं-कहीं स्वप्न के ढंग पर लेख हैं। पर जिन बातों पर लक्ष्य कर जो लिखा गया है* ***सब अनुभूत और सत्य है।*** *जिस ढंग पर संसार चल रहा है उसका पूरा-पूरा चित्र इसमें खींचा गया है। इसे ध्यान देकर पढ़ने से दुनियादारी और चालाकी की पूरी बानगी मिल जाती है।''*[72] बालकृष्ण भट्ट इसी 'अनुभूत और सत्य' को रचना का मूल तत्व बनाना चाहते हैं और यह उनकी आलोचक दृष्टि का भी मुख्य हिस्सा है। उन्होंने संस्कृत के अनेक कवियों का परिचय दिया है, इस परिचय में भी कहीं-कहीं उनकी रचना की विशेषता बतलाई गई है, एक उदाहरण—*''कालिदास से भवभूति इस बात में अलबत्ता विशिष्ट माने जा सकते हैं कि कालिदास ने चेष्टा करने पर भी दूसरा रस वैसा न लिख सके जैसा शृंगार रस लिखा पर भवभूति ने वीर चरित्र में वीरता को पूरी तरह पर दिखला दिया है।''*[73] यहाँ दो कवियों की विशेषताओं को तुलना के द्वारा दिखलाया गया है। इसे संस्कृत रचना केसहारे तुलनात्मक हिन्दी आलोचना का पूर्वाभ्यास माना जा सकता है।

3. भाषा सम्बन्धी आलोचना

(क) गद्य का निर्माण

बालकृष्ण भट्ट का भाषा सम्बन्धी चिंतन महत्त्वपूर्ण है। उनका यह चिंतन कई स्तरों पर है। भारतेन्दु

युग में हिन्दी भाषा के गद्य का स्वरूप स्थिर होता है, पर उसमें परिमार्जन का काम आगे भी लगातार जारी रहता है। भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु युग संक्राति का युग है। यहाँ एक ओर हिन्दी-गद्य के निर्माण का सवाल है, तो दूसरी ओर इस गद्य में संस्कृत निष्ठता हो या उर्दूपन, या ठेठ ग्रामीण शब्द, इस पर बहस होती है। गद्य और पद्य की भाषा एक हो या अलग-अलग, यहाँ यह मुद्दा भी सिर उठाए हुए है। बालकृष्ण भट्ट अपने भाषा सम्बन्धी चिंतन में इन तमाम बिन्दुओं का ध्यान रखते हैं। उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण काम किया है, जिनसे उनकी प्रखर आलोचक दृष्टि का आभास होता है।

भाषा के सम्बन्ध में बालकृष्ण भट्ट का चिंतन बेजोड़ है। वे भाषा की स्वाभाभिक वृत्ति की बात करते हुए लिखते हैं–''*कुल जाति या धर्म नहीं,* ***वरन जैसे लोगों में कोई रहेगा*** *वैसी ही उसकी भाषा अदल-बदलकर हो जाएगी या कभी-कभी अंग्रेजी, संस्कृत या फारसी आदि भाषाओं का अभ्यास भी असर करता है।*''[74] यहाँ बालकृष्ण भट्ट ने इस धारणा का खंडन किया है कि भाषा का सम्बन्ध कुल, जाति या धर्म से होता है। भाषा का सम्बन्ध परिवेश और माहौल से होता है। जो जिस परिवेश में रहेगा, उसकी भाषा वैसी ही होगी। बालकृष्ण भट्ट ने यह बात जुलाई 1885 के 'हिन्दी प्रदीप' में कही थी। उस समय हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग जाति और धर्म की भाषा बताई जा रही थीं। बालकृष्ण भट्ट का यह दृष्टिकोण युगान्तकारी था, कि भाषा का सम्बन्ध कुल, जाति या धर्म से नहीं होता। अन्य भाषाओं के अभ्यास के चलते भले ही किसी की भाषा पर दूसरी भाषा का थोड़ा-बहुत असर हो जाए, पर मुख्य असर अपने परिवेश का होता है। इसी क्रम में बालकृष्ण भट्ट आगे लिखते हैं–''*पहले समाज का असर भाषा पर होता है फिर शिक्षा का।*''[75]

भाषा के सम्बन्ध में इस महत्वपूर्ण स्थापना के बाद वे भाषा की सहजता की बात करते हैं। जो भाषा सहज रूप से सीखी गई है, जिस पर शिक्षा या अन्य उपकरणों का दबाव नहीं आ पाया है वही भाषा अच्छी है। क्योंकि यहाँ स्वाभाविकता है, उसमें एक प्रकार की मिठास है और ऐसी भाषा में प्रभावोत्पादक क्षमता जबर्दस्त होती है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है–''*भाषा का पूरा-पूरा जोर देखने के लिए उन लोगों पर ध्यान दीजिए जो एक ढंग के 'शून्य भीत' है' अर्थात् जिन पर किसी तरह की शिक्षा मात्र ने रंग नहीं जमाया है और जो घर में तथा घर के बाहर छोटे-बड़े सबसे एक तार की अपनी सहज भाषा बोलते हैं। सच पूछिये तो ऐसी भाषा से बढ़कर संसार में कोई दूसरी मीठी भाषा नहीं हो सकती।*'[76]

बालकृष्ण भट्ट भाषा में स्वाभाविकता और मिठास की तलाश में ठेठ हिन्दी शब्दों की ओर जाते हैं। इन शब्दों में भले ही गँवारूपन है, पर भाषा में ये ही सहजता और 'पुष्टता' लाते हैं। उन्होंने लिखा–''*ठेठ हिन्दी के शब्द जो हम लोगों के काम में लाए जाते हैं सो इसके बदले की गँवारूपने की बू उनसे आवैं एक विचित्र लहलहापन और पुष्टता उनमें भरी ही पाई जाती है और आप निश्चय जानिये*

बहुत जल्दी ही शब्दों की पूरी विजय होगी।''[77] बालकृष्ण भट्ट की स्पष्ट मान्यता है कि ठेठ हिन्दी के शब्दों में ही भाषाई लालित्य और कोमलता है। वे क्लिष्ट और बनावटी भाषा को महत्त्व नहीं देते हैं। वे भाषाई ठेठपन को ग्रामीण भाषा में पाते हैं। उनकी भविष्यवाणी है कि ठेठ हिन्दी के शब्दों का साहित्य और समाज में महत्व स्थापित होगा। समय के चक्र को बालकृष्ण भट्ट घुमा देते हैं। जिस भाषा को 'ग्रामत्व' कहकर टाल दिया गया था। आभिजात्य मानसिकता के दबाव में ठेठ ग्रामीण भाषा साहित्य से किनारे हो गई थी, बालकृष्ण भट्ट उसकी सत्ता स्थापित करते हैं। वे लिखते हैं—*''वे ही शब्द जो किसी समय गँवारी भाषा समझे गए थे सो अब काल के हेर फेर से अधिकारशाली पढ़े-लिखे लोगों के बर्ताव में आने लगे। वरन् ठेठ से ठेठ हिन्दी शब्दों की खोज लोगों को है और वह ठेठ हिन्दी हमारे ग्रामीण जनों ही के कंठ का आवरण है।''*[78] बालकृष्ण भट्ट को भाषा का ठेठपन ग्रामीण भाषा में मिलता है और वे मानते हैं कि यह भाषा भले ही परिष्कृत न हो पर भाषा का असली चरित्र इसी ग्रामीण भाषा में समाहित है। वे इसी भाषा को शुद्ध हिन्दी मानते हैं—*''जहाँ ग्रामीण जन दिनभर की गाढ़ी में लत के उपरांत एक स्थान में बैठे प्रमोद सूचक बातचीत करते हैं वहाँ अब भी नागरी के अपरिष्कृत शब्दों का अधिकार व्यवहार दिखलाई पड़ेगा। सच है जिस पत्थर को म्यामार ने रद्दी समझकर फेंक दिया वही कोने का सिरा हुआ। वह भाषा जो ग्रामवाले बोलते हैं यद्यपि परिष्कृत न हो तो भी शुद्ध हिन्दी कहलाई जाएगी।''*[79] यहाँ बालकृष्ण भट्ट ने ग्रामीण भाषा की महत्ता ही नहीं दिखायी है, बल्कि ग्रामीण संस्कृति को भी पेश किया है। वे भाषा को मनुष्य के जीवन से जोड़कर देखते हैं उन्होंने लिखा भी कि—*''रूधिर और अस्थि मनुष्य के शरीर से उतना निकट सम्बन्ध नहीं रखते जितना उनकी भाषा रखती है।''*[80]

बालकृष्ण भट्ट मानते हैं कि उसी भाषा में सजीवता और 'जान' होती है जो रोज काम में लाई जाती है। आम व्यवहार में काम आने वाली भाषा लोक के जन-जीवन से जुड़ी होती है, इसलिए ऐसी भाषा में नए-नए मुहावरों का निर्माण खुद-ब-खुद होते रहता है। उन्होंने लिखा है—*''जब तक किसी भाषा में जान है, अर्थात् रोजमर्रे के काम में उसे लोग बरतते हैं और पुष्ट रीति पर उसकी स्थिति बनी रहती है। तब-तक नए-नए मुहावरे नित्य गले में ही बनते जाएंगे।''*[81] बालकृष्ण भट्ट इस 'मुहाविरे' के आधार पर ही दो भाषाओं के अंतर को स्पष्ट करते हैं। उनका मानना है कि दो भाषाओं का व्याकरण थोड़ा-बहुत मिल भी जाएं पर 'मुहाविरे' में समानता नहीं हो सकती। ऐसा इसलिए कि मुहावरों का निर्माण जन-जीवन में होता है और जन-जीवन की अपनी संस्कृति होती है, मुहावरों में उस संस्कृति का झलक होती है। बालकृष्ण भट्ट जब लिखते हैं—*''दो भाषा व्याकरण की रीति पर कुछ मिलती भी हों परंतु वे चीजें जिनको मुहाविरे कहते हैं कभी नहीं मिल सकते और यही मुहाविरे ही हर भाषा ही जान है।''*[82] वे इसी धारणा को करते हैं। मुहावरों को भाषा की जान बताने का मतलब है लोक, जन-जीवन को महत्व देना। बालकृष्ण भट्ट का भाषा सम्बन्धी चिंतन सिर्फ भाषा तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसमें ठेठ लौकिक जीवन की प्रतिष्ठा है। वे मानते हैं कि

सर्वसाधारण के द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा ही महत्वपूर्ण है और यही भाषा तरक्की करती है। उन्होंने लिखा—''*स्मरण रहे भाषा वही तरक्की पाती है जिसे सर्वसाधारण आदर देते हैं।*''[83]

बालकृष्ण भट्ट व्याकरण के बंधन से भाषा को जकड़ना नहीं चाहते हैं। ऐसा स्वाभाविक ही है क्योंकि उनके चिंतन में भाषा का ठेठपन, उसके स्वाभाविक विकास के तत्व समाहित हैं। भाषा की सरलता, सहजता और स्वाभाविकता के प्रश्न बालकृष्ण भट्ट के यहाँ इस कदर मुखरित हैं कि उनकी दृष्टि में व्याकरण के प्रति नकार का भाव आ गया है। उन्होंने लिखा है—''*अभद्दे दुर्ग सदृश्य पाणिनि के व्याकरण के आगे हिन्दी का व्याकरण छोटी-सी फूँस की झोंपड़ी है। ये तो प्रकट है कि हमें उतने बड़े व्याकरण की आवश्यकता नहीं रह गई। एक वह समय था कि अनेक जंजालों से भरे हुए पाणिनि काव्यायन पंतजलि के सूत्र वार्तिक भाष्य में एक मात्रा का भी फेर हो जाने पर एक बड़ी भारी इमारत को ठहाकर फिर से खड़ा करना था और इसी का परिणाम यह हुआ कि हमारे यहाँ का व्याकरण ऐसा झंझट से भरा हुआ शास्त्र हो गया जैसे पृथ्वी के किसी कोने में न हुआ होगा। सच पूछिए तो दो गाड़ी के बोझ की पुस्तकें शेखर मंजूषा कैचट बड़े-बड़े जगड़ जो रचे गए उनमें और है क्या। सिवा इसके कि कीचड़ में पांव फिर धोओं एक बड़े यत्न और प्रयास से। एक बने बनाये सुन्दर और मनोहर महल को तोड़-फोड़ छिन्न-भिन्न कर पीछे पछताय फिर उसी को बनाना है। इन्हीं विफल चेष्टाओं में व्याकरण फिर उसी को बनाना है। इन्हीं विफल चेष्टाओं में व्याकरण इतना बड़ा शास्त्र हो गया जिसमें नवीन और प्राचीन का झगड़ा पढ़ते-पढ़ते उमर की उमर बीत जाती है कोरे के कोरे मूर्ख रह जाते हैं। ऐसी सरल भाषा हिन्दी में इस सब खट-पट का कुछ काम ही नहीं रह गया....।*''[84] बालकृष्ण भट्ट व्याकरण के 'जंजालों' से भाषा को मुक्त रखना चाहते हैं। ऐसी बात नहीं कि वे व्याकरण को बिलकुल ही नकारने के पक्ष में हैं। वे बड़े-बड़े जंजालों और झंझटों से मुक्त व्याकरण चाहते हैं। उन्होंने लिखा कि—'*अब उतने बड़े व्याकरणा की आवश्यकता न रह गई।*' बालकृष्ण भट्ट व्याकरण के लंबे-चौड़े कायदे-कानूनों में फँसाकर भाषा के सरल प्रवाह को कुंद नहीं करना चाहते, इसलिए वे महीन-महीन सिद्धांतों के अभद्दे दुर्ग' से भाषा को बचाकर रखना चाहते हैं। बालकृष्ण भट्ट इस बात के पक्ष में हैं कि भाषा को खाद-पानी ठेठ लौकिक जीवन और ग्रामीण संस्कृति में डूबने से मिलता है, यहीं मुहावरे बनते हैं, यहीं भाषा की सहजता और उसकी मिठास आती है। जीवन के संघर्षों, खेत-खलिहानों में भाषा अपना नया तेवर पाती है। महलों और दरबारों में भाषा में वो मिठास नहीं आएगी। मिठास तो चौपाल में बैठे कामकाज से थके ग्रामीण जनों की बातचीत में होती है, क्योंकि यहाँ स्वाभाविकता है, बनावटीपन नहीं; सहजता है तामझाम नहीं; चपलता है उच्छृंखलता नहीं। बालकृष्ण भट्ट ग्रामीणभाषा में उसी तरह आनंद पाते हैं, इसमें उनकी 'तबियत' उसी तरह खिलती है जैसे नागार्जुन को'सिके हुए दो भुट्टे मिले / और तबियत खिल गई।' बालकृष्ण भट्ट के लिए साहित्य की साधना जीवन की साधना है तो भाषा की साधना उस जीवन से कैसे अलग हो सकती है!

बालकृष्ण भट्ट भाषा के विकास की जिम्मेदारी लेखकों पर सौंपते हैं। एक तरफ वे अपनी भाषा में ठेठपन बरकरार रखने के पक्ष में हैं, दूसरी तरफ वे अन्य भाषाओं के भी शब्द अपनी भाषा में शामिल करना चाहते हैं। वे भाषा को अपनी दुनिया तक ही समेटकर नहीं रखना चाहते हैं। वे भाषा को अपनी दुनिया तक ही समेटकर नहीं रखना चाहते, बल्कि उसमें स्वाभाविकता को बरकरार रखते हुए उसका विस्तार करना चाहते हैं। जब तक भाषा में विषयों की समृद्धि नहीं होगी, तब तक भाषा मजबूत नहीं हो सकती और न ही उसका विकास होगा। बालकृष्ण भट्ट भाषा के सम्बन्ध में इन दृष्टियों से भी विचार करते हैं। उन्होंने लिखा है—*''अपनी निज की भाषा के कामकाजी शब्दों को मर जाने का मृतक प्राय हो जाने से बचाना अच्छे लेखकों को काम है। बाहरी भाषाओं के शब्दों को अपना-सा कर डालना जिससे भाषा दिन-प्रतिदिन अमीर होती जाए यह भी एक बड़ा काम है और सबसे बड़ा काम है अपने भाषा के विषयों को दूना-चौगुना करते जाना अर्थात् जी-जी विषय भाषा में पहले कम थे उनको जिला देना और जो विषय कभी थे ही नहीं उनको बाहर से लाय भरती करना। इस सबका असर यह होगा कि भाषा की नमन शक्ति बहुत बढ़ जाएगी अर्थात् जिस तरह के विषय पहले उससे बाहर समझे जाते थे वे जल्द उसकी पहुँच के भीतर आ जाएंगे।''*[85] बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के साहित्यकारों को नई दिशा देते हैं। उनमें दृष्टि की कट्टरता नहीं है। वे अपने साहित्य के ज्ञान-भंडार को बढ़ाना चाहते हैं। इसके लिए वे खड़ी बोली हिन्दी गद्य को मजबूती प्रदान करने की राह दिखाते हैं—*''यूरोप देश की विद्यारूपी बारूद को देवनाराक्षर रूप तोपों में भर मूर्खता पिशाची को जड़ पेड़ से उखाड़ सकती है क्योंकि भीतर बाहर हर गली कूचों में झोंपड़ियों की घुसपैठ बड़ी सुगम है।''*[86]

बालकृष्ण भट्ट देवनागरी अक्षर के समर्थक हैं। वे देवनागरी को हिन्दी मानते हैं। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि भाषा की समृद्धि देवनागरी अक्षरों से ही हो सकती है। वे देवनागरी अक्षर में लिखी किसी भी भाषा को हिन्दी मानते हैं। उन्होंने लिखा है—*''गद्य चाहो जैसी भाषा का देवनागरी अक्षर में लिखा हो मैं सबको हिन्दी ही समझूँगा। हमारी हिन्दी गद्य भाषा जहाँ तक और जैसे बढ़े सब हमें स्वीकृत हैं।''*[87] हिन्दी गद्य के विकास की दिशा तय होने के साथ ही हिन्दी और उर्दू का द्वंद्व भारतेन्दु युग में सर उठाने लगा। बालकृष्ण भट्ट के यहाँ इस द्वंद्व को देखा जा सकता है। वे इस बात के लिए तत्पर हैं कि हिन्दी गद्य का विकास हो, वे उर्दू को भी हिन्दी ही मानते हैं। उन्होंने लिखा—*''उर्दू भी अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी है। जो भाषा हिन्दुस्तान के नगर, ग्राम तथा सर्वसाधारण में बोली जाए वह सिवाय हिन्दी के दूसरी भाषा हो ही नहीं सकती।''*[88] बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि सर्वसाधारण की भाषा पर है। उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि हिन्दी और उर्दू एक हैं। बालकृष्ण भट्ट ने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा की—*''यह कौन कहता है कि उर्दू कोई दूसरी वस्तु है, सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का एक रूपांतर है।''*[89] उनकी यह उद्घोषणा बेकार साबित हो रही थी। हिन्दी और उर्दू के आपसी अंतर्विरोध द्वेष में बदल रहे थे और उन्हें दो धर्मों की

भाषा बनाई जा रही थी। यह निश्चय ही आत्मघाती कदम था। बालकृष्ण भट्ट ने संकेत दिया कि भाषा का सम्बन्ध कुल, जाति या धर्म से नहीं, बल्कि परिवेश से होता है। उनकी यह दृष्टि भाषाई कट्टरता के सामने नाकाफी साबित हो रही थी।

(ख) हिन्दी-उर्दू की एकता-अनेकता

हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग ध्रुवों पर केन्द्रित करने के लिए दोनों भाषाओं में क्रमशः संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द भरे जाने लगे। भाषा की स्वाभाविकता, सहजता का गला घोंटा जाने लगा। हिन्दी पर संस्कृत शब्दों का दबाव और उर्दू पर अरबी-फारसी के शब्दों का दबाव बालकृष्ण भट्ट की भाषा सम्बन्धी चिंतन पर गहरा झटका था। वे इस झटके से उबरने की कोशिश कर रहे थे और हिन्दी गद्य के विकास के रास्ते को आगे बढ़ा रहे थे। उन्होंने लिखा है—*''गद्य लेख के सम्बन्ध में तुलसी सोना मुँह में लेकर यह प्रण कर लेना कि गूढ़ातिगूढ़ संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त उर्दू शब्द आने ही न पावें जैसा हमारे नवीन सम्पादक हिन्दुस्तान और दो एक और सहयोगी करते हैं। दफा की जगह अध्याय, सिपाही का योद्धा, जहाज को अर्णवजान, कचहरी को न्यायालय इत्यादि ऐसा करना तो मानो हिन्दी का गला घोंटना है और संस्कृत शब्दों की सांकड़ से उसे जकड़ रखना है। भाषा के विस्तृत करने का यह उत्तम प्रकार कभी न कहा जाएगा।''*[90] बालकृष्ण भट्ट लोक में प्रचलित किसी भी भाषा के शब्द ग्रहण करने के पक्ष में हैं। उन्होंने लिखा—*''बहुत से लोगों का मत है कि हम लिखने-पढ़ने की भाषा से यावनिक शब्दों को बीन-बीनकर अलग करते रहे। कलकत्ता और बंबई के कुल पत्र ऐसा करने का यत्न भी कर रहे हैं किन्तु ऐसा करने से हमारी हिन्दी बढ़ेगी नहीं वरन् दिन-दिन संकुचित होती जाएगी। भाषा के विस्तार का सदा यह क्रम रहा है कि किसी भी देश के शब्दों को हम अपनी भाषा में मिलाते जायं और उसे अपना करते रहे। अरबी-फारसी की कौन कहे अब तो अंग्रेजी के अनेक शब्द हमारी हिन्दी के अंग होते जा रहे हैं। जैसे लालटेन, बोतल, पालिसी, स्टेशन.....।''*[91]

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी गद्य और भाषा के विकास के लिए लगातार प्रयासरत हैं। वे मानते हैं कि इस देश की भाषा हिन्दी या नागरी है और अपनी इस मान्यता पर वे कतई समझौता नहीं करना चाहते। हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्द आएं, यह उन्हें मान्य है। बालकृष्ण भट्ट हिन्दी में भट्ट संस्कृतनिष्ठता और उर्दूपन दोनों प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं और मुसलमानों से हिन्दी के विकास में सहयोग करने की माँग करते हैं—*''मुसलमान भाइयों क्यों व्यर्थ का तअस्सुव गाँठ बाँधे हुए हो अब तो तुम भी भारतवासी हो गए इससे इस देश की भाषा के सुधारने और बढ़ाने में यत्न करो।''*[92] बालकृष्ण भट्ट की इस माँग के पीछे तर्क हैं—भारतवासी होना। वे इस बात को रखते हैं कि हिन्दी पढ़ने से मुसलमानों के धार्मिक आचार-विचार में बाधा नहीं आ सकती। धर्म और भाषा में कुछ भी सम्बन्ध नहीं। उन्होंने लिखा—*''हिन्दी पढ़ने से कुरान के*

पठन-पाठन में किसी तरह हानि नहीं पहुंच सकती, रहे लाला लोग हमारे कायथ भाई जो चिरकाल से उर्दू फारसी में अभ्यास करते चले आए हैं और डरते हैं कि उर्दू न रहेगी तो हमारा काम कैसे चलेगा। यह उनकी नासमझी है क्योंकि हिन्दी वे जियाहद आसानी से सीख सकते हैं और जिन्हें यह आग्रह है कि हमारी भाषा उर्दू ही है उनसे यह पूछना चाहिए कि तुम अपने घर में कौन-सी बोली बोलते हो और जब अपने दस अनपढ़ भाइयों में बैठते हो वहाँ कितनी फारसी तुर्की छौंकते हो, जिन्हें थोड़ी भी समझ है वे यही कहेंगे हमारी भाषा हिन्दी ही है।''[93] बालकृष्ण भट्ट का यह चिंतन व्यावहारिकता के धरातल पर टिका हुआ है। उन्होंने उन आर्थिक कारणों का संकेत किया है, जिसके चलते 'लाला लोग' हिन्दी का विरोध कर रहे थे। बालकृष्ण भट्ट की यह धारणा है कि चूंकि हिन्दी सीखना ज्यादा आसान है और उर्दू जानने वाले भी अपने घर में अनपढ़ लोगों के बीच इसी का प्रयोग करते हैं इसलिए हिन्दी भाषा का उन्हें समर्थन करना चाहिए। हिन्दी-उर्दू भाषा के विवेचन के क्रम में बालकृष्ण भट्ट के विचार को निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

(क) हिन्दी पूरे देश की भाषा है और इसे सीखना आसान है।

(ख) हिन्दी में संस्कृत शब्दों को नहीं लाना चाहिए और प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों को जानबूझकर इससे नहीं निकालना चाहिए।

(ग) हिन्दी और उर्दू भाषा में कोई अंतर नहीं है। उर्दू भी हिन्दी का 'रूपांतर' है।

(घ) नागरी में लिखा हुआ किसी भी भाषा का अक्षर हिन्दी ही कहलाएगा।

(ङ) मुसलमान भी भारतवासी हैं इसलिए उनको हिन्दी के विकास में सहयोग करना चाहिए।

(च) उर्दू के जानकार और समर्थक भी साधारण लोगों से बातचीत में हिन्दी ही ज्यादा बोलते हैं।

(छ) हिन्दी का सम्बन्ध साधारण और 'अनपढ़' लोगों से है और

(ज) हिन्दी पढ़ना और धार्मिक आचार-विचार दोनों अलग-अलग चीजें हैं।

इस प्रकार बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी-उर्दू भाषा के संदर्भ में संतुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया। उन्होंने न हिन्दी का पक्ष लिया न उर्दू का। जिस भाषा को साधारण जनता बोलती-समझती है, उसका समर्थन किया। वे नागरी के गुणों के कायल हैं, पर उसकी आलोचना करने का माद्दा भी रखते हैं। उन्होंने लिखा–''*हम लोग यद्यपि नागरी के गुणों को मानते हैं और किसी काल में उसके प्रतिकूल नहीं हुआ चाहते पर साथ ही इंसाफ की राय से हमें यह भी मंजूर नहीं है कि फारसी के प्रस्तुत गुणों को देखने से आँख मींच लें और नागरी के प्रचार जनित अवगुणों पर परदा डाल दें, नहीं बात सच्ची कहनी चाहिए।*''[94] बालकृष्ण भट्ट अपने भाषा सम्बन्धी चिंतन में 'सच्ची' बात कहने पर जोर देते हैं। चाहे दोष फारसी में हो या नागरी में, वे दोनों के अवगुणों को दिखाना चाहते हैं।

पर बालकृष्ण भट्ट अपने संतुलन को बरकरार नहीं रख पाए हैं। हिन्दी-उर्दू भाषा पर विचार के क्रम में वे फिसले भी हैं। उन्होंने अपने भाषा-सम्बन्धी-चिंतन में सुलझे हुए दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया, पर वे हिन्दी के प्रति घनघोर आस्था के चलते कहीं-कहीं उर्दू के विरोध में चले गए हैं। उन्होंने लिखा है—''*यद्यपि हम लोगों की घरेलू भाषा में बहुत दिनों तक मुसलमानों का आधिपत्य यहाँ होने से फारसी-अरबी कहीं-कहीं पर* ***हंस के दल में कौआ*** *के समान आ मिली है। किन्तु हिन्दी का भंडार नहीं संस्कृत अब भी बनी हुई है.....हिन्दी के शब्द जिस अंश में चक्र जाते हैं उस अंश में नई गढन्त हम संस्कृत ही के सहारे से करने लगते हैं। उर्दू और हिन्दी में यही फरक भी है कि उर्दू की नई गढ़ंत के लिए सहारा अरबी-फारसी है, हिन्दी के लिए संस्कृत है। इससे सिद्ध हुआ कि हिन्दी का प्रचार पाना मानो संस्कृत ही की सहारा देना है जो अब केवल हिन्दी अक्षरों के प्रचारमात्र से सुख साध्य है।*''[95] यहाँ बालकृष्ण भट्ट के दृष्टिकोण पर हिन्दी के प्रति अंधभक्ति हावी हो गई है। जिस अरबी-फारसी के शब्दों को वे हिन्दी में शामिल करने के पक्षधर हैं, उसी को 'कौआ' बताते हैं, वो भी 'हंस' यानि हिन्दी के दल में। हिन्दी 'हंस' है और अरबी-फारसी 'कौआ'। बालकृष्ण भट्ट ने तर्क दिया था कि अरबी-फारसी यहाँ तक कि अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को भी हिन्दी में अपनाने से कोई हर्ज नहीं है। वे अरबी-फारसी की इसतरह निंदा कर अपने तर्क को खुद कमजोर कर देते हैं। वे उर्दू-फारसी साहित्य के बारे में लिखते हैं—''*जैसा फारसी और उर्दू के काव्यों में आशिक माशूक के नाज नखरे और हूर और गिलमाओं के झगड़े भरे हैं। दूसरे उनके शृंगारिक वर्णन का आधार स्त्री न हो पुरुष माना गया है। बात-बात में आशिक माशूक पर अपनी जान ने उछावर करने को तैयार रहता है। जिससे यह सिद्ध है कि फारस के इन मुसलमानों का मन कहाँ तक विकृत है और ये कितने भोगलिप्सु और मोद-प्रमोद प्रिय होते हैं। भारतभूमि में बहुत सामयिक प्रचलित बुराइयाँ इन्हीं लोगों के पदार्पण का परिणाम है।*''[96] बालकृष्ण भट्ट अरबी-फारसी के साहित्य की सीमा दिखाते हैं। यह सही है कि इसमें 'आशिकी-माशुकी' है, शृंगारिकता का जोर है; पर उन्होंने इस आधार पर पूरे मुस्लिम समुदाय की निंदा कर डाली है और भारत में 'सामयिक प्रचलित बुराइयाँ' की जड़ मुसलामानों को ही बताया है। यह मुसलमानों के प्रति बालकृष्ण भट्ट के गलत दृष्टिकोण का परिणाम है। किसी साहित्य की बुराई को किसी जाति से जोड़ना और फिर उस जाति को ही बुराई की जड़ बताना सही दृष्टिकोण नहीं कहा जाएगा।

बालकृष्ण भट्ट में भाषा के सम्बन्ध में सुलझे हुए दृष्टिकोण के बावजूद अंतर्विरोध है। यह अंतर्विरोध उस युग का अंतर्विरोध है, जिससे बालकृष्ण भट्ट भी नहीं बच पाए हैं। उन्होंने भाषा के धर्म, कुल, जाति से अलगाव की बात कर युगान्तकारी काम किया था। साधारण और ग्रामीण लोगों की भाषा की पैरवी कर वे अपने युग में सबसे अलग खड़े दिखते हैं। तमाम पूर्वग्रहों और अंतर्विरोधों के बावजूद हिन्दी-उर्दू भाषा के संदर्भ में बालकृष्ण भट्ट के चिंतन का महत्त्व ज़्यादा है।

(ग) खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा

बालकृष्ण भट्ट अपने युग के महत्वपूर्ण विवाद कविता की भाषा क्या हो, से टकराते हैं। भारतेन्दु युग में पद्य की भाषा अपनी परम्परा का हाथ थामे थी। ब्रजभाषा से उसका साबका टूटा नहीं था। बालकृष्ण भट्ट कविता की भाषा के रूप में खड़ी बोली को स्वीकार करने के पक्षधर नहीं थे। उन्होंने खड़ी बोली-ब्रजभाषा विवाद में ब्रजभाषा को पूरा-पूरा समर्थन नहीं दिया, पर वे खड़ी बोली के भी पक्षधर नहीं थे। खड़ी बोली और ब्रजभाषा में उनका झुकाव ब्रजभाषा की ओर था। वे भी खड़ी बोली के विरोध में यही तर्क दे रहे थे कि इस भाषा में कविता करने से उसमें माधुर्य नहीं आ सकता। उन्होंने लिखा—*''मेरे विचार से खड़ी बोली में एक इस प्रकार का कर्कशमन है कि कविता में काम ला उसमें सरसता सम्पादन करना प्रतिभावान के लिए कठिन है, तब तुकबंदी वालों की कौन कहे। मैं खड़ी बोली की कविता का विरोध नहीं करता, परंतु मेरा यह प्रयोजन है कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से निराली ही सोहती है। न मैं शुद्ध ब्रजभाषा का पक्षपाती हूँ मुझे तो तुलसी, बिहारी, रसखान आदि कवियो का ढंग भाता है।''*[97] इस उद्धरण से घुमा फिराकर यही निष्कर्ष निकलता है कि बालकृष्ण भट्ट खड़ी बोली की कविता की भाषा के रूप में देखने के पक्ष में नहीं है। उनकी यह माँग है कि कविता की भाषा और बोलचाल की भाषा में अंतर होना चाहिए। वे कविता में खड़ी बोली के समर्थन करने वालों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—*''जैसी दशा गद्य की है वैसी ही फजीहत पद्य की भी हो रही है। खड़ी बोली, पड़ी बोली, बैठी बोली, अधर में लटकी बोली आदि तरह-तरह की बोलियाँ ईजाद की गई हैं।''*[98]

बालकृष्ण भट्ट खड़ी बोली की कविता के विरोधी हैं, पर वे ब्रजभाषा के भी समर्थक नहीं है। कविता के लिए वे बुंदेलखंड की बोली को पसंद करते हैं। इस बोली को वे 'मर्दानी बोली' बोली तथा ब्रजभाषा को 'जनानी' बोली कहते हैं। बालकृष्ण भट्ट बुंदेलखंड की ठेठ बैसवाड़ी की बोली को कविता के लिए पसंद करते हैं। वे लिखते हैं—*''कविता के लिए उत्तम और उपर्युक्त भाषा ओज माधुर्य युग विशिष्ट बुंदेलखंड ही की मर्दानी बोली है, क्योंकि भाषा कवियों के समूह के समूह उसी प्रांत में हुए हैं। खैर उसके अभाव में मधुर पर जनानी ब्रज की भाषा भी उपयुक्त है। ठेठ बैसवारे की बोली की कविता न जाने क्यों मुझे बहुत ही भाती है।''*[99] बालकृष्ण भट्ट लाचारी में ही ब्रजभाषा अपनाने के पक्षधर हैं, पर वे कविता की भाषा के गुण ओज, माधुर्य बैसवारे की बोली में ही पाते हैं। खड़ी बोली की कविता में ये गुण नहीं आ सकते, इसलिए इस भाषा में कविता करना ठीक नहीं। उन्होंने लिखा—*''रस और माधुर्य जो कविता के प्राण हैं सो इन रूखी खड़ी बोलियों में कभी आने का नहीं। इसी से मेरा यह भी मत है कि हिन्दी की उन्नति केवल गद्य लेख के द्वारा हो सकेगी। पद्य में कविता के नाम से जब आप कुछ लिखिएगा तो उन्हीं पुराने कवि की चोरी होगी। इसी से किसी अंग्रेजी विद्वान का यह मत भी है—'As Civilization Increase Muses decrease' अर्थात् ज्यों ज्यों सभ्यता का प्रकाश होता जाता है पद्यमयी सरस्वती क्षीणता की दशा में आती*

जाती है।''[100] बालकृष्ण भट्ट गद्य का विकास करना चाहते हैं। उन्हें लगता है कि कविता का काम हो गया है। वे पुराने कवि के काव्य को ही भरा-पूरा मानते हैं। उन्हें लगता है कि अब कविता करना उन कवियों की चोरी होगी क्योंकि वे कवि लगभग सारे भाव को प्रकटकर कर गए हैं। इस बात को उन्होंने बार-बार दुहराया है—*''खड़ी बोली के रसिक उसे पद्य में लाने के व्यर्थ प्रयास से मुँह मोड़ यदि गद्य लेख के बढ़ाने के प्रयत्न करें तो हिन्दी कविता का कितना उपकार हो। सूर, तुलसी आदि कविवृंद अपनी रसमयी सुधामयी विविध पद्य रचना में हिन्दी को इतना सरस, ललित और पुष्ट कर गए हैं कि अब उसमें नई पद्य रचना करना निर पिष्ट-पेषण, उच्छिष्ट और ढकोसला है।''*[101] बालकृष्ण भट्ट में खड़ी बोली के प्रति नकार का भाव कविता के नकार का भाव बन गया है। वे मानकर चलते हैं कि अब कविता करना उन पुराने कवियों का अनुकरण करना ही होगा। बालकृष्ण भट्ट कविता के 'अस्ताचल' में चले जाने की बात करते हैं—*''कविता के जिस मार्ग पर सूर, तुलसी, भूषण, मतिराम, बिहारी, पद्माकर से आरंभ कर बाबू हरिश्चन्द्र तक चल चुके हैं उसी को हम पद्य या उत्तम काव्य कहेंगे। क्योंकि हमारी समझ से जगन्नाथ पंडितराज से संस्कृत काव्य का छोर हो गया और बाबू हरिश्चन्द्र के उपरांत भाषा की कविता अस्ताचल को पछार गई।''*[102]

बालकृष्ण भट्ट में कविता के प्रति तृप्ति का भाव क्यों है? क्या यह तृप्ति सच्ची है? अगर यह सच्ची होती तो बालकृष्ण भट्ट 'सच्ची कविता' नहीं लिखते। इस तृप्ति भाव का कारण दूसरा है और वह कारण है गद्य के विकास एवं विस्तार करने की जरूरत। यह जरूरत की बालकृष्ण भट्ट में कविता के प्रति अवहेलना का भाव लाती है।

4. जातीय भाषा और जातीयता के गुण

बालकृष्ण भट्ट अपने युग से 'आगे' आकर जातीय भाषा पर विचार करते हैं। इस मुद्दे पर उनका काम अनूठा और अकेला है। उन्होंने 'भारतवर्ष की जातीय भाषा' शीर्षक निबंध लिखा। यह निबंध 'हिन्दी प्रदीप' के फरवरी 1886 के अंक में छपा था। बालकृष्ण भट्ट ने इस निबंध में भारतवर्ष की जातीय भाषा से सम्बन्धित अनेक मुद्दों पर विचार करने का प्रयास किया गया है। 'जातीय गौरव' किसको कहते हैं, इसका क्या मतलब है, बालकृष्ण भट्ट यहीं से अपनी बात शुरू करते हैं और क्रमशः जातीय भाषा से जुड़े अपने चिंतन को उजागर करते चले गए हैं। उन्होंने लिखा—*''जातीय गौरव' यह एक पद है जो आजकल अंग्रेजी सहित संस्कृत जानने वालों की बोली और लेखों में प्रायः बरता जाता है। इसका अर्थ किसी निरे संस्तज्ञ से पूछिए तो वह अपनी-अपनी जाति का बड़प्पन या अभिमान छोड़ कुछ न बतावेगा, परंतु अंग्रेजी पठितों में अथवा उन लोगों में जिनके बीच उस भाषा के ढंग के विचारों ने किसी प्रकार प्रवेश कर लिया है इस पद का शाब्द बोध कुछ निराली ही रीति का होता है। वे जातीय गौरव से हिन्दुओं की अनेक जातियों में से किसी जाति विशेष सम्बन्धी प्रतिष्ठा का अर्थ नहीं समझते। किन्तु हिन्दू मात्र अथवा और भी बढ़िए तो*

भारतीय देशी प्रजामात्र वे समुदाय की मान मर्यादा प्रतिष्ठा आदि से तात्पर्य समझते हैं।''[103] इस तरह बालकृष्ण भट्ट 'जातीय गौरव' का अर्थ स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं। उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी के विद्वानों के विचारों से तुलना करके दिखाया है कि 'जातीय गौरव' का वास्तविक मतलब क्या है। संस्कृत के विद्वान जहाँ 'जातीय गौरव' से अपनी-अपनी जाति की विशेषता और बड़प्पन या अभिमान तक सीमित हैं, वहीं अंग्रेजी विद्वानों के यहाँ इसके अर्थ का फैलाव है और उसमें एक विशद दृष्टि है। अंग्रेजी में 'जातीय गौरव' का मतलब अपनी-अपनी जाति की विशेषता बतलाना नहीं है, बल्कि यहाँ उसका आशय एक पूरे समुदाय की 'मान मर्यादा प्रतिष्ठा' से है। बालकृष्ण भट्ट का 'जातीय गौरव' से तात्पर्य वही है, जो अंग्रेजी विद्वानों का है। उन्होंने अपनी जातीय भाषा और जातीयता सम्बन्धी अवधारणाओं के विकास में अंग्रेजी विद्वानों द्वारा स्थापित 'जातीय गौरव' के अर्थ का सहारा लिया है।

बालकृष्ण भट्ट जातीय भाषा पर खुलकर विचार करते हैं। उनके यहाँ यह चिंता का विषय है कि भारतवर्ष की कोई जातीय भाषा नहीं है। बिना जातीय भाषा के जातीय एकता कैसे हो सकती है? वे इस बात की माँग करते हैं कि भारतवर्ष की कोई जातीय भाषा हो। उन्होंने लिखा—*''जबकि हम और विषयों से भारतवर्ष से ममता रखते हैं और उसे एक ही देश मानते हैं तो क्या आश्चर्य वरन उपहास की बात नहीं है कि यहाँ कोई भाषा ऐसी एक नहीं जिसे सम्पूर्ण देश अपनी कह सके, क्या भारतवर्ष के भिन्न प्रांतों के लोग मिलकर कह सकते हैं कि हम सबकी अमुक एक भाषा है।''*[104] इस क्रम में बालकृष्ण भट्ट भारत की भाषाओं में जातीयता के गुण तलाशने की कोशिश करते हैं, पर वे किसी भाषा में इसे नहीं पाते। भारतवर्ष में कोई एक ऐसी भाषा जो व्यापक रूप से प्रचलित हो, वही यहाँ की जातीय भाषा बन सकती है। इस तलाश में वे पहले अंग्रेजी की ओर जाते हैं—''यदि किसी भाषा को हम लोग भारतवर्ष में व्यापक रूप से प्रचलित देखते हैं तो अंग्रेजी ही को पाते हैं, परंतु क्या वह भारतवर्ष की भाषा है। क्या उसमें हम लोग स्वत्व मान सकते हैं क्या किसी विदेशी वस्तु से अपनी ममता स्थापन कर सकते हैं कभी नहीं।''[105] भट्ट जी की स्पष्ट मान्यता है कि अंग्रेजी भले ही व्यापक रूप से प्रचलित है, पर उसमें भारतवर्ष की जातीय भाषा का गुण नहीं आ सकता। अंग्रेजी के द्वारा अपना स्वत्व, अपनी प्रतिष्ठा नहीं आ सकती, हालाँकि बालकृष्ण भट्ट ने अंग्रेजी का विकल्प बंद नहीं किया है। उन्होंने लिखा है—*''यह बहुत संभव है कि यदि अंग्रेजी को शिक्षा इसी प्रकार दिन-दिन फैलती गई तो कालान्तर में हमारी जातीय भाषा का भाव उसी में आ जाए, परंतु यदि ऐसा हुआ तो इस विश्वोन्नत प्राचीन भारतवर्ष के लिए इससे अधिकतर लज्जा का विषय दूसरा क्या होगा।''*[106] बालकृष्ण भट्ट अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार को देखते हुए इस संभावना से इंकार नहीं करते कि वही भारतवर्ष की जातीय भाषा बन जाए, परंतु इस संभावना में लज्जा का भाव है। जहाँ इतनी भाषाएँ हैं, वहाँ एक विदेशी भाषा जातीय भाषा बने यह उनको स्वीकार्य नहीं। बालकृष्ण भट्ट का यह दृष्टिकोण निश्चय ही दूरगामी और प्रगतिशील था। वे भारतवर्ष की भाषाओं में से ही किसी एक भाषा

को जातीय भाषा के रूप देखना चाहते हैं। इस क्रम में उनका ध्यान संस्कृत की ओर भी जाता है। उन्होंने जातीय भाषा के रूप में संस्कृत की संभावना पर विचार किया है। उन्होंने इस बारे में लिखा कि–''*कोई एक भाषा अकेली ऐसी नही है जिसे भारतवर्ष की जातीय भाषा कह सकें। हाँ संस्कृत को अवश्य सब देश अपनी कह सकता है, परंतु यह* ***'सामान्य बर्ताव में नहीं आती*** *इससे, वर्तमान कालीन जातीयता उसमें नहीं है।*''[107] बालकृष्ण भट्ट की यह धारणा बिल्कुल सही है। कोई भाषा जातीय भाषा तभी बन सकती है जब वह आम जिन्दगी में काम आए और संस्कृत भाषा इससे कोसों दूर है इसलिए संस्कृत भारतवर्ष की जातीय भाषा बनने लायक नहीं है।

बालकृष्ण भट्ट ने 'भारतवर्ष की जातीय भाषा' पर विचार के क्रम में इस बात की ओर ध्यान दिया कि, वह भाषा जो भारत की हो तथा जो 'सामान्य बर्ताव' में काम आती हो वही भारत की जातीय भाषा बन सकती है। वे अंग्रेजी और संस्कृत को इसी तर्क के आधार पर खारिज कर देते हैं। पर सवाल तो अब भी उनके सामने है कि कौन सी भाषा में जातीयता के गुण हैं? भारतवर्ष की जातीय भाषा का अधिकार किसे दिया जाए? बालकृष्ण भट्ट इस बात को जानते हैं कि सिर्फ कहने या चिल्लाने से कोई भाषा जातीय भाषा नहीं बनती। जातीय भाषा वही बनती है जिसमें जातीयता के गुण होते है। और इस गुण की तलाश के क्रम में लिखते हैं–''*इतना हमें अवश्य कहना चाहिए था कि यद्यपि जातीय भाषा हम लोगों की कोई नहीं परंतु जातीय अक्षर है। और जो कोई हमारी जातीय भाषा कभी होवेगी इसके अक्षर भी वे ही अक्षर होने चाहिए जिनमें कि इस समय जातीयता है। वे अक्षर देवनागरी हैं और भारतवर्ष की वर्तमान भाषाओं में एक भाषा भी ऐसी है जो इन उक्त अक्षरों में लिखी जाती है और वह भाषा ईश्वर की कृपा से हिन्दी है। फिर यह भी है कि यह हिन्दी थोड़ी बहुत भारतवर्ष के सब भागों में समझी जाती है और अधिक भागों में बोली जाती है।*''[108] बालकृष्ण भट्ट देवनागरी अक्षर को जातीय अक्षर मानते हैं और चूँकि देवनागरी अक्षर में हिन्दी भाषा लिखी जाती है, इसलिए हिन्दी ही भारतवर्ष की जातीय भाषा हो सकती है। गौरतलब है कि उन्होंने हिन्दी के पक्ष में जो तर्क दिया है उसमें आस्था नहीं, व्यावहारिकता है। हिन्दी भाषा ही कमोवेश पूरे भारतवर्ष में समझी जाती है इसलिए भारतवर्ष की जातीय भाषा हिन्दी हो सकती है।

बालकृष्ण भट्ट जातीय भाषा पर विचार करते हैं; इस क्रम में वे अपनी जातीयता सम्बन्धी अवधारणा को और स्पष्ट करते हैं। उनके यहाँ जातीयता का मतलब पूरे भारतीय समुदाय की एकजुटता से है। बालकृष्ण भट्ट ने 'जातीय गौरव' को 'भारतीय देशी प्रजामात्र के समुदाय की मान मर्यादा' से जोड़ा है। जातीयता के बारे में वे लिखते हैं–''*'नेशन' अर्थात् किसी जाति या देश के लोगों की समष्टि जिसे कौम भी कहते हैं और और 'इनडिबिजुअल' एक व्यक्ति जिसे जाति या कौम की समष्टि बनी है।*''[109] इसप्रकार बालकृष्ण भट्ट 'नेशन' और 'इनडिविजुअल' में अंतर को स्पष्ट करते हैं और इसी क्रम में जाति की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं।

बालकृष्ण भट्ट ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि जातीयता कैसे आती है। वे जातीयता के लिए दो कारणों को प्रमुख मानते हैं—एक प्राकृतिक, दूसरा व्यावहारिक। उन्होंने लिखा—''*मनुष्यों में जातीयता का भाव दो कारणों से पैदा होता है एक प्राकृतिक दूसरा व्यावहारिक। प्राकृतिक कारण जातीयता का जुदे-जुदे देशों का शीत, उष्ण, उर्वर, अनुर्वर इत्यादि का तारतम्य है और इस कारण उन-उन देशों के रहने वाले मनुष्यों में शारीरिक और मानसिक भावों का भेद हो गया और वही एक एक जाति बन गई।*''[110] बालकृष्ण भट्ट प्राकृतिक कारणों के चलते जातीयता के भाव के आने की व्याख्या करने के चलते जातीयता के भाव के आने की व्याख्या करने के बाद व्यावहारिक कारण की ओर मुड़ते हैं। उन्होंने लिखा—''***काम साधने के लिए मनुष्य का मनुष्य के साथ जो परस्पर संयोग, एकता, उद्यम और साहस है*** *वह व्यावहारिक कारण है। जातीयता का अवांतर कारण प्रतिवासिता अर्थात् पड़ोंस का निवास भाषा मत या धर्म आदि है। पड़ोसी का पड़ोसी के साथ परस्पर आलाप, परिचय और सुहृद भाव के द्वारा दोनों में जो एक प्रकार का विश्वास और सहानुभूति हो जाती है उसी सहानुभूति और विश्वास के बल वे दोनों किसी बड़े काम के साधन निमित्त जहाँ तक एकता के सूत्र में बँध सके उसी को हम व्यावहारिक कारण जातीयता का कहेंगे।*''[111] बालकृष्ण भट्ट जातीयता के विश्लेषण के क्रम में उस मूल जड़ तक पहुँच जाते हैं, जहाँ से जातीयता का बीज अंकुरित होना शुरू होता है। आपसी लेन-देन, काम साधने के लिए एक-दूसरे के करीब आना, इन बातों का संकेत कर बालकृष्ण भट्ट ने आधुनिक विद्वानों की तरह जातीयता की तह में जाने की कोशिश की है।

बालकृष्ण भट्ट जातीयता के लिए सहानुभूति और विश्वास को जरूरी मानते हैं। वे लिखते हैं—''सहानुभूति और विश्वास यही दो जातीयता नदी के किनारे हैं। एक भाषा, एक मत वा एक धर्म एक ही फल गोत्र या वंश में जन्म आदि से भी सहानुभूति और विश्वास वृक्ष की जड़ पुष्ट पड़ती जाती हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि ***प्रयोजन की सिद्धि*** *इस जातीयता का फल है सो जातीयता बिना सहानुभूति के अकेली भाषा, अकेला धर्म वा मत से कभी नहीं होती वरन् अलग-अलग ये तीनों जातीयता के विरोधी हैं।*''[112] बालकृष्ण भट्ट एक भाषा, एक मत, एक धर्म आदि को जातीयता के लिए आवश्यक मानते हैं, पर इन्हें आपस में किसी काम के प्रति प्रयोजन की सिद्धि का भाव जोड़ता है। 'प्रयोजन की सिद्धि' के बिना जातीयता नहीं आ सकती। इसके बिना अकेली भाषा, मत या धर्म जातीयता के विरोधी हो जाते हैं। 'प्रयोजन की सिद्धि' ही मनुष्य को आपस में जोड़ती है। हालाँकि इस मार्ग में कठिनाइयाँ हैं, जिसका संकेत बालकृष्ण भट्ट ने किया है—''*हिन्दुस्तान में जातीयता और सहानुभूति इसलिए नहीं होती कि यहाँ मत और भाषा की विभिन्नता बहुत है।*''[113] भारत में एक मत और एक भाषा नहीं है। 'भाषा की विभिन्नता' जातीयता को विकसित होने में बाधा पहुँचाती है। बालकृष्ण भट्ट का यह दृष्टिकोण आज के जैसा लगता है। बालकृष्ण भट्ट जातीयता को धर्म आदि से नहीं, बल्कि राजनीति से जोड़ना चाहते हैं, क्योंकि जाति की तरक्की इसी

पर निर्भर है। धार्मिक एकता से महत्वपूर्ण राजनीतिक एकता है। उन्होंने लिखा है–''*धर्म सम्बन्धी आदि एकता से आप और-और तरह का लाभ मानें पर देश की उन्नति और वास्तविक भलाई करने का द्वार हम राजनैतिक एकता ही को मानेंगे।* ***जब तक कोई जाति एक राजनैतिक समूह न होगी।*** *जिसका एक ही राजनैतिक उद्देश्य है और जिस जाति के लोग एक ही राजनैतिक ख्याल से प्रोत्साहित नहीं हैं तब तक आप उस जाति की सम्पत्ति और वृद्धि की बुनियाद किस चीज पर कायम रखेंगे?*''[114] बालकृष्ण भट्ट का यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। राजनीतिक उद्देश्य के बिना जातीयता बेकार है।

बालकृष्ण भट्ट जातीयता की अवधारणा को स्पष्ट ही नहीं करते, बल्कि इसे पुष्ट करने का उपाय भी सोचते हैं। एक उपाय हैं- राजनीतिक उद्देश्यों की एकता। वे दूसरे उपाय का संकेत इस प्रकार देते हैं–''बालकों में जातीयता का भाव पैदा करने के लिए हमें चाहिए जातीय विश्वविद्यालय National University स्थापित कर जातीय शिक्षा का प्रसार करें। जिसमें संस्कृत और अरबी भाषा प्रधान हो।''[115] बालकृष्ण भट्ट का यह सुझाव काबिले तारीफ है। वे जातीय विश्वविद्यालय की स्थापना करने की बात कर उसमें संस्कृत और अरबी भाषा की पढ़ाई एक साथ करवाने की बात रखते हैं। उनकी यह माँग युगान्तकारी है।

संदर्भ स्रोत

1. सत्यप्रकाश मिश्र, (संपा०), बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 48
2. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1880 , पृ० 16
3. वही
4. वही
5. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1 पृ० 164
6. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०), बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन, पृ० 79
7. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881 पृ० 15
8. वही
9. वही, पृ० 16
10. वही
11. नेमिचंद्र जैन (संपा०), मुक्तिबोध रचनावली भाग-5 पृ० 20
12. मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ० 56
13. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881 पृ० 16-17
14. वही, पृ० 19
15. वही
16. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ० 19
17. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, फरवरी-मार्च 1892 पृ० 23
18. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर, 1900 पृ० 18
19. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, 1886 पृ० 12
20. वही, पृ० 11
21. वही, पृ० 13-14
22. वही, पृ० 14
23. वही, पृ० 15
24. वही, पृ० 13
25. वही, पृ० 15

26. वही, पृ० 15
27. वही, पृ० 16
28. वही, पृ० 17
29. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०) बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 120
30. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1906 पृ० 1-2
31. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1906 पृ० 2
32. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर, 1907 पृ० 12
33. वही, पृ० 13
34. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1885 पृ० 3
35. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०) बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 100-101
36. वही, पृ०101
37. वही
38. वही, पृ० 102
39. वही
40. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, मई, जून, जुलाई, 1904 पृ० 40
41. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, 1883 पृ० 18-19
42. वही, पृ० 19
43. वही
44. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1883 पृ० 17
45. वही, पृ० 18
46. वही
47. वही
48. वही, पृ० 18, 19
49. वही, पृ० 19
50. वही, पृ० 18-19
51. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886 , पृ० 16

52. वही

53. वही

54. वही, पृ० 16-17

55. वही, पृ० 17-18

56. वही,पृ० 18

57. वही, पृ० 17

58. वही, पृ० 18

59. वही, पृ० 20

60. वही, पृ० 16

61. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1886, पृ० 14

62. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, मार्च 1878 पृ० 16

63. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, फरवरी, 1882 पृ० 1-2

64. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, 1883 पृ० 3

65. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1880 पृ० 7

66. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर, 1883 पृ० 1-2

67. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर, 1882 पृ० 12-13

68. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई, 1901 पृ० 18

69. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मार्च, 1897 पृ० 41

70. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, मई, 1886 पृ० 16-17

71. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल 1904 पृ० 51-52

72. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अगस्त, 1887 पृ० 23-24

73. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जून, जुलाई 1892 पृ० 31

74. सत्यप्रकाश मिश्र, (संपा०) बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 11

75. वही,

76. वही, पृ० 11-12

77. वही, पृ० 13

78. वही

79. पद्माकर पांडेय (संपा०), राष्ट्रीय पत्रकार एवं अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट पृ० 122

80. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा.) बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 7

81. वही

82. वही

83. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, सितम्बर, अक्टूबर 1897 पृ० 22

84. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०), बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 9

85. वही, पृ० 9-10

86. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल 1896 पृ० 27

87. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1888 पृ० 4

88. पद्माकर पांडेय (संपा०), राष्ट्रीय पत्रकार एवं अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, पृ० 124

89. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1885 पृ० 6

90. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, नवबर, दिसम्बर 1887 पृ० 55

91. पद्माकर पांडेय (संपा०), राष्ट्रीय पत्रकार एवं अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, पृ० 124

92. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जून 1882 पृ० 18

93. वही, पृ० 20

94. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1880 पृ० 17

95. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, सितम्बर, अक्टूबर 1897 पृ० 23

96. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट, पृ० 306

97. पद्माकर पांडेय (संपा०), राष्ट्रीय पत्रकार एवं अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, पृ० 127

98. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल 1904 पृ० 30

99. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर 1887 पृ० 55

100. वही, पृ० 55

101. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर 1889 पृ० 18

102. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1888 पृ० 5

103. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1886 पृ० 19-20

104. वही, पृ० 20

105. वही

106. वही, पृ० 21

107. वही

108. वही

109. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1880 पृ० 1

110. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मचार्च 1897 पृ० 42

111. वही, पृ० 44

112. वही

113. वही

114. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, 1888 पृ० 6

115. सत्यप्रकाश मिश्र, (संपा०), बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन, पृ० 154

चौथा अध्याय

बालकृष्ण भट्ट
और
परवर्ती हिन्दी आलोचना

बालकृष्ण भट्ट और परवर्ती हिन्दी आलोचना

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी आलोचना के लिए माहौल और मानसिकता का निर्माण करते हैं। इस माहौल और मानसिकता में साहित्य की रीतिवादी समझदारी से अलग एक नई तरह की समझदारी है, जिसमें मनुष्य और समाज के लिए भरपूर स्थान है। साहित्य की यह लौकिक समझदारी ही आलोचना को नई दिशा और दशा प्रदान करती है। बालकृष्ण भट्ट आलोचना के जिस अर्थ और अवधारणा का विकास करते हैं वह 'जहाँ से चले थे वहीं पे खड़े हैं' वाली नहीं है, बल्कि 'वर्द्धमान' है। वर्द्धमान वह इसी अर्थ में है कि इसमें कुछ जोड़ने और घटाने की गुंजाइश है। शुक्ल जी ने अपने निबंध 'कविता क्या है' के शुरू में लिखा है—''मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों के लिए दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अंत तक चला चलता है। और इसी को जीना कहते हैं।'' (चिंतामणि भाग-1 पृ० 93) अगर शुक्ल जी के जीवन के इस आशय का प्रयोग बालकृष्ण भट्ट की आलोचना के लिए करें तो यहाँ भी कुछ 'मिलाने' के साथ कुछ 'लड़ाने' की गुंजाइश है और इस अर्थ में बालकृष्ण भट्ट की आलोचना संवादधर्मी है। बालकृष्ण भट्ट की इस संवादधर्मिता की सही पहचान कर परवर्ती हिन्दी आलोचना ने अपने विकास और विस्तार का रास्ता अख्तियार किया है। वे साहित्य और आलोचना के लिए जिस जवाबदेही की माँग करते हैं वह परवर्ती लेखन के लिए मान बन जाती है, साथ में जान भी।

बालकृष्ण भट्ट साहित्य के लिए पहली और बुनियादी जवाबदेही की अभिव्यक्ति यह लिखकर करते हैं कि—''*साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।*''[1] साहित्य की इस जवाबदेही में 'जनसमूह' की हृदयगत भावनाओं के लिए चिंता है उसकी अभिव्यक्ति बनाने की पुरजोर कोशिश है। बालकृष्ण भट्ट के साहित्य की इस जवाबदेही में साहित्य का 'भावात्मक पक्ष' उभरकर सामने आया है, पर उसका 'ज्ञानात्मक पक्ष' उतना महत्व नहीं पा सका? महावीर प्रसाद द्विवेदी बालकृष्ण भट्ट की साहित्य सम्बन्धी इस जवाबदेही से संवाद करते हुए साहित्य के ज्ञानात्मक पक्ष पर जोर देते हैं। वे लिखते हैं।—''*ज्ञान राशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है।*''[2] साहित्य में भावात्मक पक्ष का केन्द्रीय महत्व तो है ही, साथ में उसके ज्ञानात्मक पक्ष पर भी ध्यान देना जरूरी है। इस तरह महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य की जवाबदेही को दूसरी ओर मोड़ते हैं। इस संदर्भ में प्रो० मैनेजर पांडेय की टिप्पणी जायज है कि—''*महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में साहित्य 'जन समूह के हृदय का विकास ही नहीं रहा, उसके ज्ञानात्मक पक्ष के विकास पर ध्यान दिया गया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य का 'ज्ञानराशि संचित कोष' मानते ही नहीं थे हिन्दी साहित्य को 'ज्ञान राशि का संचित कोष' बनाने के लिए प्रयत्नशील ही थे।*''[3] बालकृष्ण भट्ट और महावीर प्रसाद द्विवेदी दो भिन्न-भिन्न ऐंगलों से साहित्य को देखते हैं, एक के यहाँ साहित्य के लिए 'जनसमूह के हृदय का विकास' की दृष्टि प्रमुख हैं, दूसरे के यहाँ 'ज्ञानराशि के संचित कोष' की। क्या 'जनसमूह के हृदय का विकास'

के बिना साहित्य को 'ज्ञानराशि का संचित कोष' बनाया जा सकता है? दोनों विद्वानों के साहित्य की इस बाहरी बनावट में अन्तर है, पर उसकी आंतरिक बनावट में एकता है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—''*प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्य के हृदय का आदर्शरूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।*''[4] किसी जाति के हृदयगत भाव को परखने का एकमात्र साधन साहित्य है। किसी समय के लोगों के 'आभ्यंतरित भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे', इसे उस समय के 'साहित्य की समालोचना' से प्रकट किया जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट की इस मान्यता को महावीर प्रसाद द्विवेदी दूसरे शब्दों में, पर उसी आशय के साथ इस प्रकार रखते हैं—'*जाति विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संघटन उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रंथ साहित्य में ही मिल सकता है।*''[5] महावीर प्रसाद द्विवेदी बालकृष्ण भट्ट के दृष्टिकोण का विस्तार और उसकी व्याख्या करते हैं। बालकृष्ण भट्ट किसी जाति के 'भाव' को 'साहित्य की समालोचना' से देखने-परखने की बात करते हैं, महावीर प्रसाद द्विवेदी उस 'भाव' की व्याख्या करते हुए उसमें किसी जाति के उत्कर्ष-अपकर्ष, उसके 'उच्चनीच' भाव, उसके धार्मिक विचार आदि को रखते हैं, साथ ही साहित्य के द्वारा उसके 'सामाजिक संघटन' 'ऐतिहासिक घटनाचक्रों' और 'राजनैतिक स्थितियों' को परखने का रास्ता खोलते हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य के द्वारा ही सामाजिक 'सजीवता' या 'निर्जीवता', सभ्यता-असभ्यता आदि का पता लगाने की बात करते हैं इस तरह वे साहित्य की जवाबदेही का और फैलाव करते हैं। उन्होंने लिखा—''*सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक आसक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको दीख पड़े, आप निस्सन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आइने ही में मिल सकती है।*''[6] महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार साहित्य 'आईना' है जिसमें समाज, सभ्यता आदि को देखा जा सकता है और उनकी उत्कृष्टता-निकृष्टता की पड़ताल साहित्य से ही की जा सकती है। बालकृष्ण भट्ट के यहाँ यह 'आईना' 'नपाना' के रूप में है। वे साहित्य को सभ्यता से जोड़कर देखते हैं। उन्होंने लिखा—''*साहित्य का सभ्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वरन् साहित्य ही सभ्यता का प्रधान अंग है। यह कभी हो ही नहीं सकता कि कोई देश सभ्यता में बढ़ जाए और साहित्य वहाँ की भाषा का पीछे हटा रहे। जो देश सभ्यता के छोर तक पहुँच पीछे गिरी दशा में आ गया है तो वहाँ का साहित्य ही उस देश की सभ्यता का नपाना होता है कि यहाँ सभ्यता किस सीमा तक पहुँच चुकी थी।*''[7] महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य में समाज, सभ्यता को

'प्रतिबिम्ब' रूप में देखते हैं बालकृष्ण भट्ट भी उसे प्रतिबिम्ब रूप में देखते हैं, और दोनों विद्वान साहित्य से ही सभ्यता को तौलते भी हैं। कुल मिलाकर दोनों विद्वान साहित्य को समाज के दर्पण के रूप में देखते हैं। इस 'दर्पणवादी दृष्टिकोण' की अपनी सीमा है जिसका संकेत प्रो० मैनेजर पांडेय ने किया है—*''दर्पणवादी दृष्टिकोण की एक सीमा यह है कि इसमें रचनाकार की चेतना की क्रियाशीलता की उपेक्षा होती है। लेखक सामाजिक यथार्थ को रचना में प्रतिबिम्बित ही नहीं करता, वह उसकी पुनर्रचना भी करता है। रचना में उनकी कल्पनाएँ और आकांक्षाएँ भी व्यक्त होती है। दूसरी सीमा यह है कि समाज रचना की अंतर्वस्तु में ही नहीं होता उसके रूप और शिल्प में भी होता है।''*[8] इस उद्धरण को देने का उद्देश्य बालकृष्ण भट्ट या महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि की सीमा दिखाकर उनको छोटा सिद्ध करना नहीं है। इसका निहितार्थ सिर्फ इतना है कि आलोचना के विकास और विस्तार के लिए उसका संवादधर्मी होना कितना जरूरी है। बालकृष्ण भट्ट की आलोचना संवादधर्मिता को अपने भीतर बचाए हुए है जिससे महावीर प्रसाद द्विवेदी और अन्य महत्वपूर्ण परवर्ती आलोचक संवाद करते हैं उसमें कुछ 'मिलाते' हैं और कुछ 'लड़ाते' हैं।

बालकृष्ण भट्ट साहित्य से सभ्यता, समाज को तौलते हैं, साथ में उनके भीतर यह आकांक्षा है कि साहित्य ऐसा हो जो सभ्यता के विकास में सहायक हो। यह एक आलोचक की आकांक्षा है। उन्होंने लिखा है—*''जैसा कमल को अपने विकास के लिए सूर्य की आवश्यकता है वैसा ही सभ्यता को अपने विकास के लिए साहित्य की आवश्यकता है और सभ्यता का असर जितना अधिक देश के साहित्य पर पड़ता है और चिरस्थाई रहता है उतना किसी दूसरी बात पर नहीं। बिना साहित्य के सभ्यता वैसी ही टिकी है जैसा बिना नोन के भोजन।''*[9] साहित्य के बिना किसी सभ्यता का विकास संभव नहीं है बालकृष्ण भट्ट जब यह कहते हैं तो इसका साफ मतलब है कि कोई सभ्यता 'जनसमूह' को किनारे कर विकसित नहीं हो सकती। सभ्यता के विकास के लिए साहित्य की आवश्यकता पर बल देते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—*''यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक बड़े उत्साह से सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए।''*[10] इस प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य की महत्ता स्थापित करते हैं। बालकृष्ण भट्ट और महावीर प्रसाद द्विवेदी दोनों के यहाँ यह चिंता और आकांक्षा बनी हुई है कि साहित्य का भरपूर विकास हो, क्योंकि इसके बिना सभ्यता का विकास संभव नहीं है। दोनों विद्वान साहित्य में समाज-सभ्यता को तलाशते हैं और साथ में उनमें एक आकांक्षा भी है कि ऐसा साहित्य सर्जन हो, जो समाज-सभ्यता के लिए 'सूर्य' का काम करे। यह दृष्टि हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहाँ और गहरी रूप में सामने आई है। वे लिखते हैं—*''साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत तथा उन्नत बनाता है और तभी उसका बाह्य रूप भी साफ और स्वस्थ होने से आंतरिक स्वास्थ्य का भी आरंभ होता है।''*[11] बालकृष्ण भट्ट के यहाँ साहित्य सभ्यता के विकास के लिए जरूरी है,

हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहाँ मनुष्य के लिए। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी सभ्यता की तह में प्रवेश करते हैं। साहित्य सम्बन्धी चिंता को लेकर हिन्दी आलोचना क्रमशः आगे बढ़ी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी भी किसी जाति के 'आभ्यंतरिक भाव' को परखने क लिए साहित्य की आवश्यकता महसूस करते हैं। उन्होंने लिखा—''*यदि हमसे कोई पूछे कि भारतीय जाति ने क्या सोचा-विचारा है, उसकी अमूल्य चिंताराशि क्या है तो हम उसे उस संपूर्ण साहित्य के उत्तम ग्रंथों का निचोड़ सुनाएँगे जो वैदिक ऋषि से लेकर प्रेमचंद तक महान विचारकों ने रचा है।*''[12] द्विवेदी जी इसी बात को और स्पष्ट करते हुए एक जगह लिखते हैं—''*साहित्य में उन सारी बातों का जीवन्त विवरण होता है जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है। जीवन के जो पहलू हमें नजदीक से और स्थाई रूप से प्रभावित करते हैं उनके विषय में मनुष्य के अनुभवों के समझने का एकमात्र साधन साहित्य है।*''[13] स्पष्ट है बालकृष्ण भट्ट के द्वारा साहित्य में 'जनसमूह' के हृदय को खोजने की कोशिश निरंतर गहरी और सूक्ष्म होती गई है।

बालकृष्ण भट्ट साहित्य को 'जनसमूह के हृदय का विकास' के रूप में देखते हैं, महावीर प्रसाद द्विवेदी के यहाँ वह 'ज्ञानराशि का संचित कोश' बनता है। साहित्य की मान्यता का अगला पायदान आचार्य रामचंद्र शुक्ल के यहाँ मिलता है। उन्होंने लिखा—''*जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है।*''[14] शुक्ल जी के यहाँ 'जनसमूह के हृदय का विकास' 'जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्बि' हो जाता है। यह बालकृष्ण भट्ट के दृष्टिकोण का विकास है। बालकृष्ण भट्ट किसी जाति के 'आभ्यंतरिक भाव' को उसके समय के 'साहित्य की समालोचना' द्वारा परखने की बात करते हैं, शुक्ल जी साहित्य में 'जनता की चित्तवृत्ति' को देखते हैं। यह बालकृष्ण भट्ट की साहित्य सम्बन्धी मान्यता का 'परिष्कृत' रूप है। शुक्ल जी के यहाँ साहित्य सम्बन्धी-दृष्टि और सूक्ष्म एवं गहरी हो गई है। प्रो० मैनेजर पांडेय ने सही लिखा है—''*आचार्य शुक्ल ने लिखा कि 'साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब है' तो बालकृष्ण भट्ट की साहित्य की धारणा उनके सामने थी। बालकृष्ण भट्ट और आचार्य शुक्ल की साहित्य की धारणाओं को एक साथ रखकर देखने पर यह जाहिर होगा कि आचार्य शुक्ल की धारणा बालकृष्ण भट्ट की साहित्य की जनवादी धारणा का ही परिष्कृत रूप है।*''[15]

साहित्य की यात्रा 'जनसमूह' से शुरू होकर 'जनता' पर रूकती है, रूकती नहीं, थोड़ा साँस लेकर और आगे बढ़ती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य के बारे में लिखा कि—''*मनुष्य की साहित्य का लक्ष्य है।*''[16] साहित्य का लक्ष्य मनुष्य को घोषित करने का मतलब है उसके आशा-आकांक्षा, सपने और संघर्षों को साहित्य में शामिल करना। गौरतलब है कि बालकृष्ण भट्ट ने 'जनसमूह' शब्द का प्रयोग 'जाति' के अर्थ में किया है। साहित्य 'जाति' से 'जनता' और 'जनता' से 'मनुष्य' की ओर आगे बढ़ा है। साहित्य की यह यात्रा अणु से परमाणु की ओर की यात्रा है सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर लगातार बढ़ता हुआ....। बालकृष्ण

भट्ट की साहित्य सम्बन्धी धारणा निरंतर विकसित होती गई है। साहित्य का लक्ष्य 'मनुष्य' घोषित होने के बाद उसकी यात्रा और आगे बढ़ी है। आगे 'मनुष्य' के साथ-साथ 'मानवता' भी साहित्य से जुड़ जाता है। मुक्तिबोध ने लिखा–''*मानव चरित्र के चित्र का नाम कला है। व्यक्तिधारा जब मानवता के सिन्धु में डूब जाती है तब उसके संगम स्थल पर जो कलरव होता है वही कला बन जाती है। यह संगम-स्थान क्या मानवता-सिन्धु को निषिद्ध कर उत्पन्न होता है? या वही, व्यक्ति धारा को निषिद्ध कर अपना अस्तित्व ग्रहण कर सकता है? केवल नहीं उसका उत्तर है। तो कला मानव-समाज की वाणी में झंकृत व्यक्तिगत कम्पन्न है।*''[17] यहाँ साहित्य की मान्यता में 'मानवता सिन्धु' के साथ रचनाकार के 'व्यक्तिगत कम्पन' को रखा गया है। इसके बिना साहित्य की भूमिका अधूरी रहेगी। मुक्तिबोध की साहित्य सम्बन्धी मान्यता में साहित्य की पक्षधरता के बीज भी सुरक्षित हैं। उन्होंने यह पक्षधरता साहित्य में 'मानवता सिन्धु' के उद्घाटन के साथ जाहिर की है। मुक्तिबोध की साहित्य सम्बन्धी मान्यता की विशिष्टता इस बात में भी है कि यहाँ रचनाकार के लिए भी जगह है। इसको स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं–''साहित्य वह समन्वय है जिस की रूप-रचना का आकार व्यक्ति शक्ति से बना होकर भी जिसके तत्व सामाजिक हैं। जिसके तत्व समाज-प्राप्त होकर भी वैयक्तिक शक्ति से शरीर-प्राप्त हैं। साहित्य आत्मा की संस्कृति है और आत्मसंस्कृति समाज की अंतश्चेतना है। आत्मसंस्कृति के माध्यम से ही अंतश्चेतन चेतना विकसित होकर अभिव्यक्त होती है।''[18] साहित्य की इस धारणा में रचनाकार और समाज दोनों के लिए जगह है। साहित्य का कर्म व्यक्ति-सत्ता से संचालित होकर समाज की ओर जाता है और समाज वैयक्तिक प्रयास से अपनी अभिव्यक्ति पाता है। साहित्य की यह धारणा 'आत्मसंस्कृति' और 'समाज की अंतश्चेतना' दोनों को साथ लेकर विकसित हुई है।

बालकृष्ण भट्ट परवर्ती हिन्दी आलोचना के लिए प्लेटफार्म तैयार करते हैं जहाँ से हिन्दी आलोचना अपने अर्थ और अवधारणा-दोनों का विस्तार करती है। वे साहित्य की हर प्रमुख विधा पर विचार करते हैं। इस संदर्भ में उनकी कविता सम्बन्धी अवधारणा महत्वपूर्ण है। वे 'सच्ची कविता' निबंध लिखकर अपने आलोचनात्मक विवेक का परिचय देते हैं। बालकृष्ण भट्ट के सामने यह चुनौती थी, क्योंकि उनके पहले से कविता सम्बन्धी अवधारणा की विशाल और विस्तृत परंपरा चली आ रही थी। बालकृष्ण भट्ट को इस परंपरा के चक्के को रोकना था। परंपरा के पास सिद्धान्त का विशाल भंडार, नाप-जोख की कलाबाजियाँ, विद्वता और आचार्यतत्व का दंभ, चमक-दमक और अलौकिकता का मायाजाल था। बालकृष्ण भट्ट के पास क्या है? वे मनुष्य और समाज के प्रति अपनी आस्था को इस परंपरा से टकरा देते हैं और विजयी होकर लौटते हैं। इस विजयी भाव की अभिव्यक्ति इस रूप में होती है–''*कविता को हम मनुष्य के हृदयगत भाव का सत्त-एसन्स मानते हैं।*''[19] कविता की अवधारणा की दुनिया में मनुष्य की यह पहली और 'सच्ची' जीत है, इसलिए यह 'सच्ची कविता' भी है। परवर्ती हिन्दी आलोचना ने बालकृष्ण भट्ट की इस जीत की लाज रखी

है और कविता में मनुष्य और समाज के प्रति आस्था और विश्वास को कायम रखा है। महावीर प्रसाद द्विवेदी सबसे पहले कविता के इस नए दायित्व को सँभालते हैं और इसका विस्तार भी करते हैं। उन्होंने कविता के बारे में लिखा—*''अंतःकरण की वृत्तियों के चित्त का नाम कविता है।''*[20] कविता में 'मनुष्य के हृदयगत भाव का सत्त' 'अंतःकरण की वृत्तियों के चित्र' में परिणत होता है। बात एक ही है;बस कुछ और परिष्कृत और मँजा हुआ कविता का चेहरा महावीर प्रसाद द्विवेदी दिखाते हैं। वे कविता के बारे में लिखते हैं—*''कविता है भावों की अभिव्यक्ति। कवि अपने समय का प्रतिनिधि-स्वरूप होता है। इसलिए उसकी कृति में उस समय के भावों का प्रतिबिम्ब लक्षित हो जाता है।''*[21]

कविता का काम 'मनुष्य के हृदयगत भाव का सत्त' या 'अंतःकरण की वृत्तियों के चित्र' से ही नहीं चल सकता, उसे और आगे जाने की जरूरत है। इस जरूरत को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने समझा। वे कविता के अर्थ का विस्तार करते हैं। शुक्ल जी लिखते हैं—*''जिसप्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है, हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।''*[22] कविता हृदय के 'सत्त' से होते हुए हृदय की 'मुक्ति' तक पहुँचती है। हृदय की मुक्ति, मतलब अपने 'सुख-दुख', 'हानि-लाभ' आदि के बंधन से बाहर निकलना, 'अपने-आपको बिलकुल भूलकर'—'विशुद्ध अनुभूति' की स्थिति ही हृदय मुक्ति है। कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ से ऊपर उठाकर उसे 'लोक-सामान्य भाव-भूमि' से जोड़ती है। शुक्ल जी कविता के माध्यम से मनुष्य को लोक में लीन करना चाहते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी भी कविता को हृदय की 'मुक्ति' से जोड़कर देखते हैं—*''मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थसिद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, पर दुःखकातर और संवेदनशील बनाना और निखिल जगत के भीतर चिरस्तब्ध 'एक' की अनुभूति के द्वारा प्राणीमात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही काव्य का काम है।''*[23] मनुष्य में मनुष्यत्व का विकास करना कविता का काम है। वह मनुष्यता का विकास करती है। बालकृष्ण भट्ट कविता में 'मनुष्य के हृदयगत भावों' का प्रवेश कराते हैं, शुक्ल जी उस हृदयगत भावों का विकास हृदय की 'मुक्ति' के रूप में करते हैं और यहाँ आकर कविता 'मनुष्यता की मातृभाषा' बन जाती है। शुक्ल जी ने लिखा है—*''बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा जिसके भीतर बँधा-बँधा शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी की अंतःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।''*[24] कविता मनुष्यता की रक्षिणी है।

बालकृष्ण भट्ट और महावीर प्रसाद द्विवेदी के यहाँ कविता की मनुष्यता दूसरे रूप में सामने आई

है। वे कविता पर से उसकी अलौकिकता, बनावटीपन के आवरण को हटाकर 'सच्ची कविता' को इस लोक में लाते हैं। बालकृष्ण भट्ट के पहले नियमबद्ध कविता थी। वे इस 'नियमबद्ध कविता' के सामने 'अनियमबद्ध कविता' को खड़ा कर देते हैं जहाँ से कविता का 'झरना' फूट पड़ता है। वे लिखते हैं—''अनियमबद्ध कविता जो कवि के हृदयगत भावों का स्वच्छ विकास और पूर्ण स्वच्छन्दतायुक्त है उसकी उपमा हम यदि एक झरने से दें तो कुछ अनुचित न होगा।''[25] बालकृष्ण भट्ट के लिए 'सच्ची कविता' कवि के हृदयगत भावों का स्वच्छ विकास' है। कवि का हृदय ही अगर नियमों से जकड़ा रहा तो वहाँ 'सच्ची कविता' कैसे होगी। फिर कविता 'हृदय की 'मुक्ति' से कैसे जुड़ेगी?

बालकृष्ण भट्ट के यहाँ कविता को शास्त्रीय बंधनों से मुक्त कराने की दृष्टि प्रमुख है, स्वाभाविकता और बनावटीपन का सवाल है, हृदय में उठी भावना के अनुसार ही कविता करने की माँग है, महावीर प्रसाद द्विवेदी के यहाँ स्थिति थोड़ी दूसरी है। वे कविता को सामाजिक, नैतिक, धार्मिक विषयों की शिक्षा से जोड़ते हैं। उनके अनुसार कविता में लोगों का अनुराग पैदा करने के लिए उनकी रूचि का ख्याल रखना चाहिए। वे लिखते हैं—''*हिन्दी-कवि का कर्त्तव्य यह है कि वह लोगों की रूचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नई कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाए।*''[26] और जब लोगों का कविता में अनुराग पैदा हो जाए, तब कविता को अपने उद्देश्य की पूर्ति में लग जाना चाहिए। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—''*जब लोगों का झुकाव इस ओर होने लगे तब समय-समय पर कल्पित अथवा सत्य आख्यानों के द्वारा सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विषयों की मनोहर शिक्षा दे। जब जो विषय उसके अवलोकन में आवे तभी उस पर अपनी स्वाभाविक शक्ति से कविता लिखकर लोगों को परोक्ष रूप से सचेत करे।*''[27] महावीर प्रसाद द्विवेदी लोगों को नैतिक रूप से जीवंत और जाग्रत बनाने के लिए ज्यादा सचेत हैं, इसलिए वे कविता के द्वारा सामाजिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा देने की बात सोचते हैं। शुक्ल जी के यहाँ भी कविता के द्वारा 'मंगल-अमंगल' के चित्रण की चेष्टा है। इससे एक तरह की शिक्षा निकलती है, पर दूसरे तरीके द्वारा। उन्होंने लिखा है—''*मंगल-अमंगल के द्वंद्व में कवि लोग अंत में मंगल शक्ति की जो सफलता दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (Didecticism) या अस्वाभाविकता की गंध समझकर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जाएंगे और सच्चे कवि ऐसा नहीं करते।*''[28] शुक्ल जी मंगल भावना को कविता पर थोपकर नहीं निकालना चाहते, ऐसे में चित्रण में अस्वाभाविकता आएगी। मंगल और अमंगल के 'द्वंद्व' में मंगल की जीत की सफलता इसी में है कि उस द्वंद्व को सही तरीके से दिखाया जाए। 'राम की शक्तिपूजा' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। यहाँ 'होगी जय होगी जय हे पुरुषोत्तम नवीन' के साथ 'जानकी। हाय, उद्धार प्रिया हो न सका' भी है, इसलिए यह कविता है कोरी शिक्षा नहीं।

कविता की सफलता-असफलता की पड़ताल तो जीवन के संघर्षों में ही होती है। शुक्ल जी कविता को जीवन-संघर्षों के बीच देखते हैं। बालकृष्ण भट्ट कविता को मनुष्य के हृदय से जोड़कर रूक जाते हैं। मनुष्य है तो वहाँ आशा-निराशा होगी। एक ओर 'प्रेम, हास, उत्साह' तो दूसरी ओर 'क्रोध, शोक, घृणा और भय' भी होंगे। शुक्ल जी बालकृष्ण भट्ट के काम को आगे बढ़ाते हुए कविता की दुनिया का फैलाव करते हैं। जीवन के संघर्षों के बीच ही जीवन का सौन्दर्य है और इसी सौंदर्य को चित्रित करने से कविता में जान आती है। शुक्ल जी लिखते हैं—*''जीवन का सौंदर्य वैचित्र्यपूर्ण है। उसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं है। उसमें एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य आदि है दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय आदि.....। जो लोग केवल शांत और निष्क्रिय (स्टैटिक) सौन्दर्य के अलौकिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं वे कविता को जीवन क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं।*[29] शुक्ल जीवन की समझदारी और कविता की समझदारी में कोई भेद नहीं करते बल्कि जीवन और कविता को एक-दूसरे में घुला-मिला देते हैं और यहीं से सच्चे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। पर कविता में जीवन को घुलाना इतना आसान नहीं है, इसके लिए 'लोकहृदय की पहचान' जरूरी है, तभी सच्चा जीवन उसमें आएगा और तभी 'सच्ची कविता' होगी। शुक्ल जी ने लिखा—*''सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।''*[30]

बालकृष्ण भट्ट कविता के लिए जिस स्वाभाविकता, साधारणता और सरलता का सौंदर्यशास्त्र गढ़ते हैं वह परवर्ती काव्य चिंतनों में फलीभूत होता है। वे कविता की स्वाभाविकता, अनियमबद्धता ग्रामीण कविता में पाते हैं। यह कविता साधारण और 'भद्दे' लोगों की कविता है, पर यहीं 'सच्ची कविता का लसरा' उपलब्ध है। साधारण लोगों की कविता को ही 'सच्ची कविता' बताना कविता की परम्परागत मान्यता पर गहरी चोट थी। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—*''मल्लाहों के गीत, कहारों का कहरवा, बिरह। अथवा आल्हा आदि भद्दी और केवल गंवारों की रोचक कविताएं हैं। इनकी प्रशंसा में यदि हम कुछ कहें तो नागरिक जन जो भाषा की उत्तम कविता के रसपान के घमंड में फूले नहीं समाते अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार समझेंगे। निस्संदेह वे ग्राम्य कविता हैं और मलार ठुमरी का स्वाद लेने वालों की दृष्टि में महाभद्दी और घृणित हैं, पर इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि कविता के बँधे कायदे पर न होने से उनमें कोई गुण ही नहीं और सर्वथा दूषित ही हैं।''*[31] बालकृष्ण भट्ट का 'ग्राम कविता' की ओर झुकाव उसकी स्वाभाविकता के कारण है, यहाँ 'नागरिक कविता' का 'जहर' नहीं है। उन्होंने कविता की दुनिया में साधारण लोगों की कविता की पैठ करायी, उनके हृदय में इन साधारण लोगों के प्रति भी आस्था है। साधारण लोगों की कविता में स्वाभाविकता है क्योंकि उनके जीवन में भी स्वाभिकता है। यह संयोग नहीं है कि बालकृष्ण भट्ट ग्रामीण जीवन के समानान्तर 'नागरिक कविता और ग्रामीण भद्दे गँवार लोग के समानांतर 'नागरिक

जन' को खड़ा करते हैं। वे 'भद्दे', 'गँवार' लोगों की कविता को काव्यक्षेत्र में ही नहीं लाते बल्कि उसे ही सच्ची कविता बताते हैं, प्रकारांतर से यह काम काव्य क्षेत्र में 'भद्दे' और 'गंवार' लोगों को भी लाना है और उनके जीवन को सच्चा बताना है। बालकृष्ण भट्ट ने 'मल्लाहों के गीत', 'कहारों का कहरवा' के माध्यम से 'मल्लाहों', 'कहारों' को कविता में लाये, पर इसकी जोरदार अभिव्यक्ति परवर्ती काव्य चिन्तनों में हुई। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—*''भविष्य का लक्ष्य इधर ही होगा। अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखानों से निकले हुए मैले मजदूर को अपने काव्यों का नायक बनाना नहीं चाहता था। परन्तु अब वही क्षुद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत का रहस्य सबको विदित होगा। जगत का रहस्य क्या है, इस पर एक ने कहा है कि असाधारणता में यह रहस्य नहीं है। जो साधारण में है वही रहस्यमय है; वही अनंत सौन्दर्य से युक्त है। इसी सौन्दर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य-कवियों का काम होगा।''*[32] कविता का कर्मक्षेत्र असाधारण से साधारण की ओर मुड़ जाता है। 'सुन्दरता की कसौटी' बदल जाती है। राजस्तुति, वीरगाथा और प्रकृतिवर्णन से कविता का काम चलने वाला नहीं है। कविता पर लौकिकता का दबाव साधारण में ही सौन्दर्य खोजने को विवश कर देता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी साधारण लोगों की कविता को नहीं, साधारण लोगों को ही कविता में लाकर खड़ा कर देते हैं, यह असाधारणता पर साधारणता की विजय है, अलौकिकता पर लौकिकता की जीत है।

कविता पर साधारणता का दबाव शुक्ल जी के यहाँ आकर और बढ़ जाता है। उनकी जोरदार उद्घोषणा होती है कि *''साधारण से ही असाधारण की सत्ता है।''*[33] कविता में असाधारणता के नाम पर साधारण की किनारे करना 'सच्ची कविता' नहीं है। सच्ची कविता तभी होगी जब साधारण में ही असाधारण को ढूँढ़ा जाए। साधारण में ही सौन्दर्य का अपार भंडार है। यहाँ का सौन्दर्य मिलावटी नहीं बल्कि सच्चा और स्वाभाविक सौन्दर्य है। राजमहलों-दरबारों की चमक-दमक इस साधारण की सत्ता के सामने फीकी है। शुक्ल जी ने लिखा है—*''कविता देवी के मंदिर ऊँचे खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौन्दर्य नहीं ढूँढ़ा करते। वे फूस के झोंपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।''*[34] कविता साफ-सुथरी चमक-दमक की दुनिया से निकलकर धूल-धूसरित हो उसी में रम जाती है। उसकी दुनिया पर से असाधारणता का परदा हट जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जब कहते हैं—*''कवि यद्यपि दुनिया की साधारण वस्तुओं को ही उपादान के रूप में व्यवहार करता है, परंतु उसका अर्थ असाधारण होता है।''*[35] तब कविता पर साधारण की सत्ता मजबूत होती है। मामूली लोगों के संसार में कविता का प्रवेश का मतलब है उसका मामूली लोगों के जीवन और संघर्ष से जुड़ना। अब तक कविता को सत्ता की लड़ाई-भिड़ाई, वीरता की गाथा, अंतःपुर की लीलाओं, श्रृंगारिकता के नाम पर नारी शरीर की नापजोख से मतलब था। कविता

को इस तथाकथित सौंदर्य की दुनिया से बाहर निकलना होगा। प्रेमचंद की प्रसिद्ध उद्घोषणा कविता के बने-बनाए प्रतिमान को तोड़-मरोड़ देती है—''*हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वंदिता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंत:पुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खंडहर उसके स्थान के अधिकारी न थे। उन्हें यह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इसका मजाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेश-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए, उसका शीन-क़ाफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य विद्रूप की स्थाई सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएं हैं—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।*''[36] कला की साझेदारी को तमाम तरह के उपकरणों से छुड़ाकर मनुष्य मात्र को उसका साझेदार बनाना कला की दुनिया में मनुष्य की सत्ता को स्थापित करना है। वह मनुष्य महलों और बंगलों में रहने वाला मनुष्य नहीं है, वह झोंपड़ी में बसर करनेवाला है। प्रेमचंद के यहाँ स्थिति और साफ हो जाती है। यहाँ साधारण-असाधारण का मुहावरा गरीब-अमीर के मुहावरे में बदल जाता है। कला की पक्षधरता सही तरीके से घोषित होती है। कविता की साधारण लोक से गरीब लोक तक की यह यात्रा निरंतर बढ़ती सामाजिकता और लौकिकता के दबाव और साहित्य की पक्षधरता स्पष्ट होने के कारण हुई है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहाँ अमीर-गरीब के बीच की खाई का मामला सुन्दर-असुन्दर का मामला है। बालकृष्ण भट्ट ने ग्रामीण लोगों की कविताओं में सुन्दरता की तलाश की, महावीर प्रसाद द्विवेदी और शुक्ल जी ग्रामीण और साधारण लोगों को ही कविता का विषय बना देते हैं, असाधारणता की जगह साधारणता को स्थापित करते हैं, प्रेमचंद के यहाँ गरीब-अमीर में गरीब के प्रति पक्षधरता जाहिर होती है, वे 'सुन्दरता की कसौटी' को ग्रामीण और गरीब लोगों की ओर मोड़ देते हैं, हजारी प्रसाद द्विवेदी की चिंता दूसरी है—''साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में, आकाश-पाताल का अंतर हो, वह दुनिया बाह्य सामंजस्य नहीं कही जा सकती और इसलिए वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य असुन्दता के 'दूह' में खड़े होकर आंतरिक सौंदर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें उस बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौंदर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते।''[37] यहाँ आकर साधारणता और सुन्दरता का क्षेत्र और पैना हो गया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का ध्यान समाज और संसार में 'असामंजस्य' है इसकी ओर ज़्यादा है। कविता महलों को छोड़कर झोंपड़ी में सौन्दर्य तलाशने लगे, सिर्फ इससे कविता का दायित्व पूरा होने वाला नहीं है, बल्कि महलों और झोंपड़ी में जो 'असामंजस्य' है उससे

लड़ना होगा। द्विवेदी जी इस असामंजस्य की दुनिया को सुन्दर नहीं 'असुन्दर' मानते हैं और वे इस 'असुन्दर' को देखना की रचना की जिम्मेदारी मानते हैं।

बालकृष्ण भट्ट से काव्य सम्बन्धी चिंतन लोक और लोक की विडंबनाओं-संभावनाओं को ओर लगातार अग्रसर होता गया है। कविता को महलों और दरबारों से निकालकर इस 'मिट्टी' से जोड़ने में बालकृष्ण भट्ट और परवर्ती आलोचकों को काफी पापड़ बेलने पड़े हैं। वे एक तरफ कविता को इस लोक में लाते हैं जहाँ साधारणता सहजता और स्वाभाविकता है दूसरी ओर उस मानसिकता का जमकर विरोध करते हैं जो काव्य साधना को लोक साधना से दूर रखने के लिए जिम्मेदार थी। हिन्दी कविता में नायिका भेद, अलंकारशास्त्र, श्रृंगारिकता का अम्बार लगा था। स्वाभाविकता की जगह 'कृत्रिमता' थी। बालकृष्ण भट्ट इनका विरोध करते हैं और कविता में नया जीवन भरते हैं। उन्होंने 'सच्ची कविता' नियमबद्धता और शास्त्रीय पद्धति के विरोध में लिखी है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा—*''प्रायः तो नायिका-नायक का एक-एक अंग का नखशिख वर्णन उनकी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति का ओर छोर आ लगा है। बहुत बढ़े पर ऋतु के वर्णन के जाप से बसन्त हुआ तो वह सहकार मधुकार कामदेव की सेना को अपने-अपने ढंग पर गा जाने के अतिरिक्त एक ही विषय पर नई-नई और बात लावैं कहाँ से.....।''*[38] बालकृष्ण भट्ट की काव्यदृष्टि में रीतिवाद के विरोध का बीज सुरक्षित है। परवर्ती हिन्दी आलोचना में रीतिवाद का जमकर विरोध होता है और कविता 'लोकमंगल' से जुड़ जाती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—*''नायिकाएँ ही श्रृंगार-रस की अवलम्बन हैं और श्रृंगार रस ही सब रसों का राजा है। राजा का जीवन ही जब इन नायिकाओं पर अवलंबित है तब कहिए क्यों हमारे पुराने साहित्य में इनकी प्रतिष्ठा न हो। इन कृति का कीर्त्तन करके क्यों कवि जन अपनी वाणी का सफल न करे? और इन्हीं की बदौलत नाना प्रकार के पुरस्कार पाकर क्यों न वे अपने को कृत्कृत्य मानें?''*[39] रीतिवादी काव्य परम्परा और वीरगाथात्मक काव्य का दायित्व दरबार के प्रति अपनी निष्ठा जाहिर करने में था। कवि का काम आश्रयदाताओं का मनोरंजन और स्तुति कर पैसा कमाना था। उनके इस काम में अलंकारशास्त्र नायिकाभेद, नखशिख वर्णन मददगार साबित होते थे। आधुनिक भाषा में कहें तो काव्य में नायिकाभेद, नख शिख वर्णन की रीतिवादी दृष्टि राजाओं और सामंतों के लिए विभिन्न टी० वी० चैनलों और इंटरनेटों की भूमिका निभाती थी जहाँ नारी शरीर को प्रत्यक्ष न घूरकर भाव-जगत में ही घूरकर अपने मन की तृप्ति की जाती थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध 'नायिका भेद' में एक महत्वपूर्ण संकेत किया है; उन्होंने लिखा है—*''जिस प्रकार के लक्षण और उदाहरण नायिकाओं के विषय में लिखे गए उसी प्रकार के लक्षण और उदाहरण प्रायः पुरुषों के बारे में लिखे जा सकते हैं। परंतु हमारी भाषा के कवियों ने नायकों के ऊपर इस प्रकार की पुस्तकें नहीं लिखीं। इसलिए हम उनको धन्यवाद देते हैं।''*[40] पुरुषों पर लक्षणग्रंथ और उदाहरण की पुस्तकें कम लिखी गयी,नहीं के बराबर लिखी गयी, इस मुद्दे पर विचार होना चाहिए। पुरुषों का नारी पर स्वामित्व और उसके प्रति भोगवादी दृष्टि ही इसका उत्तर है। बात सामंती युग

की हो या आधुनिक युग की, नारी को एक वस्तु मानकर उसके प्रति भोगवादी दृष्टि ही नारी को कविता में नायिकाभेद, नख-शिख वर्णन करने का विषय बनाती है या सौंदर्य प्रतियोगिताएँ और मॉडलिंग करवाकर आधुनिक तरीके से उसके नायिका भेद और नख-शिख वर्णन की दुनिया में घसीटती है।

कविता का उद्देश्य ही जब खुशामद करना हो तो वहाँ स्वाभाविकता कहाँ से आएगी। इस खुशामद को जमीन प्रदान करने में काव्यशास्त्रीय पद्धति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि वह खुशामद के तौर तरीकों या 'केटलॉग' को उपलब्ध कराती है। इसलिए हिन्दी आलोचना में रीतिवादी पद्धति शास्त्रीयता का आग्रह आदि पर प्रहार हुआ है। कविता का उद्देश्य चमत्कार उत्पन्न करना नहीं है। शुक्ल जी ने लिखा—''काव्य के सम्बन्ध में 'चमत्कार' अनूठापन आदि शब्द बहुत दिनों से लाए जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें संदेह नहीं। इसमें जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते।''[41] शुक्ल जी के लिए कविता का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नहीं है, यहाँ कविता का उद्देश्य मनुष्य हृदय के साथ 'सामंजस्य स्थापन' है, जाहिर है ऐसी स्थिति में यहाँ शास्त्र के लिए जगह कम है या उतनी ही है जितनी जरूरत है। शुक्ल जी के यहाँ शास्त्र साधन के रूप में आया है साध्य के रूप में नहीं। वे लिखते हैं—''*कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बढ़ाकर दिखलाना पड़ता है; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मशाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी बात को भी घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।*''[42] शुक्ल जी कविता के लिए शास्त्र की जरूरत महसूस करते हैं पर एक सीमा तक, आगे वे खुद लिखते हैं—''*पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती।*''[43] स्पष्ट है कि शुक्ल जी की काव्य दृष्टि में शास्त्र का आग्रह नहीं है।

शुक्लजी कविता में रीतिवाद का विरोध करते हैं, पर वे वहीं नहीं रूकते। इस पर वे आगे भी काम करते हैं। वे रीतिवादी-चमत्कारी कवि का विरोध भी करते ही हैं साथ में वे रीतिवादी-चमत्कारी कविता के प्रेमियों की भी खबर लेते हैं। वे पाठकीय रूचि का परिष्कार भी करते हैं। कविता में रीतिवाद का विरोध पाठकीय अभिरूचि को भी नियंत्रित करता है और उसको एक दिशा देता है। शुक्ल जी ने लिखा—''*स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्‌भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण, विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते, अधिकांश*

केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रूचि स्थूल और भद्दी है, और हृदय के गहरे तलों से सम्बन्ध नहीं रखती। जिस रूचि से प्रेरित होकर लोग आतशबाजी, जुलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं यह वही रूचि है। काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की छोटी रूचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्ति पूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे। कोई बिहारी के विरह वर्णन पर सिर हिलाता है, कोई 'यार' की कमर गायब होने पर वाह-वाह करता है।''[44] असाधारण और चमत्कार पर मुग्ध होना सच्ची 'सहृदयता' की पहचान नहीं है। शुक्ल जी की यह टिप्पणी एक पाठक पर तो है ही जो 'असाधारणत्व के साक्षात्कार' को ही काव्य का अस्वादन मान लेता है, साथ में यह टिप्पणी एक आलोचक पर भी है जो कविता में 'असाधारणत्व' की तलाश करते हैं और ऐसी कविता की तारीफ करते हैं। क्योंकि आलोचक भी अंततः एक पाठक ही होता है। और ऐसे ही पाठक के लिए शुक्ल जी ने अलग से लिखा—''*वे तड़क-भड़क, सजावट, रंगों की चमक-दमक, कलाओं की बारीकी पर भले ही मुग्ध हो सकते हैं, सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते।*''[45] वे कविता की दुनिया में जो रीतिवाद, चमत्कारिता और 'असाधारणत्व' या उसका विरोध करते हैं साथ में पाठक-आलोचक की कविता सम्बन्धी धारणा को भी दुरूस्त करते हैं।

बालकृष्ण भट्ट ने कविता को मनुष्य के हृदय से जोड़कर, स्वाभाविकता को उसकी जान बताकर कविता की बनी-बनाई परिपाटी को तोड़कर उसको नई दिशा देने का प्रयास किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी कविता को जीवन से जोड़कर देखा, उन्होंने शास्त्र को कविता के लिए गैर जरूरी माना और कविता से नैतिक, धार्मिक शिक्षा निकालने की बात सोची, पर इन दोनों आलोचकों का ध्यान अपनी उस परंपरा की ओर बहुत कम या नहीं के बराबर गया है जहाँ काव्यजगत और लोकजगत में एकता थी, कविता की भाषा और लोक की भाषा में एकता थी। और वह परंपरा भक्तिकालीन कविता है। रीतिवादी काव्य-परंपरा में ही उसके विरोध के बीज मौजूद थे। वहीं 'ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच लोगन कवित्त को खेल करि जानो है' या 'लोगा हिं लागि कवित्त बनावत, मोहे तो मेरो कवित्त बनावत' की अनुगूंज मिलती है। बालकृष्ण भट्ट या महावीर प्रसाद द्विवेदी इस अनुगूंज का उपयोग नहीं कर पाते। यह काम शुक्ल जी के द्वारा होता है। वे अपनी काव्यदृष्टि के लिए खाद-पानी भक्ति काव्य से जुटाते हैं और कविता में 'लोकमंगल' का स्वर तेज होता है।

कविता की दुनिया झंझटों से भरी होती है। दरअसल में झंझटों से लड़ना और उससे उबरने की कोशिश ही कविता को कविता बनाती है। बालकृष्ण भट्ट कविता को एक झंझट से मुक्त करने की दिशा देते हैं तब तक यह आधुनिक 'सभ्यता' कविता के लिए दूसरी झंझट खड़ा कर देती है। इस झंझट का संकेत बालकृष्ण भट्ट ने यूँ दिया है—''*सभ्यता का सूर्य ज्यों-ज्यों उठता हुआ मध्याह्न को पहुँचता जाता है त्यों-त्यों चित्रकारी में नई नई तराश-खराश की बारीकी चौगुनी होती जाती है, पर कवियों की वाग्देवी जिस सीमा*

को पहले जमाने में पहुँच चुकी है उससे बराबर अब तक घटती गई, यद्यपि हाल की सभ्यता, बुद्धि वैभव, शाइस्तगी के मुकाबले वह जमाना बहुत पीछे हटा हुआ था।''[46] बालकृष्ण भट्ट की धारणा है कि चित्रकारी के लिए यह नई सभ्यता भले ही संजीवनी का काम करे पर कविता के लिए 'विष' है। यह नई सभ्यता 'बुद्धि वैभव' के मामले में काफी आगे बढ़ी है, पर कविता का काम आसान नहीं रह गया। पहले सभ्यता इतनी विकसित नहीं थी, पर कविता के रास्ते में इतनी बाधाएं नहीं थीं। इस मुद्दे पर बालकृष्ण भट्ट ने सोचा है और इसका उत्तर देने का प्रयास किया है। उन्होंने लिखा है—*''पूर्वकाल में जब हमारा समाज बालक दशा में थी, उनके लिए 'ज्ञातव्य विषय' (जानने के लायक बात) बहुत थोड़े थे। जिधर उन्होंने नजर दौड़ाया उधर ही उन्हें नये-नये जानने के योग्य पदार्थ मिलते गए। बुद्धि इनकी विमल थी, चित्र में किसी तरह का कुटिल भाव नहीं आने पाया था, क्योंकि समाज अब के समान प्रौढ़ दिशा को नहीं पहुँचाया; इसलिए बहुत बातों में सभ्यता की बुरी हवा का झकोर भी उन शिष्ट पुरुषों तक न पहुँच सका था।''*[47] बालकृष्ण भट्ट ने इस बात को रेखांकित किया है कि पहले की सभ्यता में जानने लायक बात थोड़ी थी, कवि को चारों ओर नई-नई जानने लायक बात मिल जाती थी, मतलब कविता करने की जगह ज्यादा थी। अब वैसा न रहा, बुद्धि का, ज्ञान का विकास हुआ, कविता करने का विषय संकुचित होते गया। इस स्थापना के आगे बालकृष्ण भट्ट ने जो संकेत दिया है वह ज़्यादा महत्वपूर्ण है। सभ्यता के विकास के साथ जो विडंबना आती है इससे वह अविकसित सभ्यता दूर थी, इसलिए वहां कविता करना आसान था।

सभ्यता के विकास के साथ 'कवि कर्म' में आई कठिनाइयों पर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी विचार किया है। उनका कहना है कि प्राचीन कवियों पर शास्त्रीयता का दबाव कम था। वे अपने हृदयगत भाव अच्छी तरह प्रकट करने के लिए शास्त्र पर आश्रित नही थे। बाद के कवि इस ओर ज्यादा ध्यान देने लगे, इससे उनकी कविता में अर्थ की वह गंभीरता नहीं रही और कविता का काम भी कठिन हो गया। द्विवेदी जी की मान्यता है कि प्राचीन कवि किसी 'आशा के वशीभूत' कविता नहीं करते थे। वे 'परमेश्वर को भक्ति द्वारा प्रसन्न' करने के लिए कविता करते थे। अब ऐसा कम होता है इसलिए 'कविता में हीनता' आ गई है। द्विवेदी जी मानते हैं कि कविता के लिए एक प्रकार की भावुकता की जरूरत होती है जो अब कम हो गयी है। उन्होंने लिखा है—*''कविता के लिए एक प्रकार की भावुकता, एक प्रकार की सात्विकता और एक प्रकार का भोलापन दरकार होता है। वह समय के परिवर्तन से बहुत कम हो जाता है, इसीलिए पहले जैसी कविता नही होती।''*[48] महावीर प्रसाद द्विवेदी की यह स्थापना बालकृष्ण भट्ट की स्थापना के नजदीक है। बालकृष्ण भट्ट ने कहा है कि सभ्यता के विकास के साथ 'विमल' बुद्धि की जगह कुटिलता का जोर हो जाता है, सभ्यता की बुरी हवा के 'झकोर' से कवि भी प्रभावित होते हैं, इसलिए कविता का काम कठिन हो गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी भी यही कह रहे हैं कि समय के परिवर्तन के साथ भावुकता, सात्विकता में कमी होती गई, इसलिए 'पहले की जैसी कविता अब नहीं होती।'

महावीर प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। बालकृष्ण भट्ट के शब्दों में कहें तो सभ्यता कविता के लिए 'विष' है। द्विवेदी जी ने लिखा है–''जब तक ज्ञान की वृद्धि नहीं होती–जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता–तभी तक कविता की उन्नति होती है, क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य और अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है। शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत।''[49] ज्ञान की वृद्धि कविता के लिए बाधा बनकर आती है। कविता में तार्किकता की नहीं एक प्रकार की भावुकता की जरूरत होती है। कविता में हुबहू वहीं नहीं रहता जो जीवन और जगत में है बल्कि उसमें कुछ मिलावट भी की जाती है। जो ज्ञान की कसौटी पर कविता को परखते हैं, उनकी तार्किकता के सामने वह मिलावटी अंश खटकने वाला सिद्ध होता है। द्विवेदी जी की मान्यता है कि ज्ञान की वृद्धि तार्किकता को लाती है, भावुकता को कम करती है फलतः कविता का काम कठिन हो जाता है।

शुक्ल जी ने बालकृष्ण भट्ट और महावीर प्रसाद द्विवेदी से आगे बढ़कर 'सभ्यता के आवरण और कविता' पर विचार किया है। उनकी मान्यता है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ ही भावों में जटिलता आती है और मनुष्य के भावों पर सभ्यता का आवरण चढ़ते जाता है। उसके भावों का वह 'आदिम रूप' नहीं रहता बल्कि उसमें सभ्यता के ढेरों पेचीदगी आ जाती हैं। मनुष्य के भाव और कविता के बीच सभ्यता का आवरण आ जाता है, इसमें ज़टिलता आ जाती है। कवि को सीधे भाव से जुड़ना है, इसलिए उसका काम बढ़ जाता है। उस के लिए मनुष्य के भावों को, व्यापारों को 'प्रत्यक्ष' करने के लिए 'सभ्यता के आवरण' को हटाना जरूरी है। शुक्ल जी ने लिखा है–''*मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत-से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जाएंगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जाएगा।*''[50] बालकृष्ण भट्ट और महावीरप्रसाद द्विवेदी की तुलना में शुक्ल जी का चिंतन आगे बढ़ा हुआ है। यहाँ 'कवि कर्म' की कठिनाइयों के कारण को ही सूक्ष्म तरीके से विश्लेषण नहीं किया गया है बल्कि इसके साथ ही कविता की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। बालकृष्ण भट्ट के यहाँ 'सभ्यता के बुरी हवा का झकोर' का प्रश्न केन्द्र में है शुक्ल जी के यहाँ 'सभ्यता को आवरण' का प्रश्न महत्वपूर्ण है। बालकृष्ण भट्ट सभ्यता के विकास के साथ 'विमल' बुद्धि का अभाव देखते हैं, वहाँ 'कुटिलता' आ गई है। शुक्ल जी सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के 'प्रच्छन्न' भावों को देखते हैं। यहाँ कवि को मनुष्य के प्रच्छन्न भावों से होते हुए उसके मूल भावों तक पहुँचने की कोशिश करनी पड़ती है इसलिए 'कविकर्म' और कठिन हो गया; क्योंकि बिना मूलभाव तक पहुँचे अच्छी कविता हो ही नहीं सकती। बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी आलोचना में पहली बार सभ्यता के

विकास और कविता की स्थिति पर विचार किया, इस मुद्दे पर विचार करने के लिए भूमि तैयार की, जहाँ खड़े होकर परवर्ती हिन्दी आलोचना ने सभ्यता के विकास के साथ 'कविकर्म' की कठिनाइयों पर सूक्ष्म तरीके से विचार किया।

बालकृष्ण भट्ट का ध्यान नई रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर भी था। वे हिन्दी आलोचना में नई रचनात्मक प्रवृत्ति के लिए संघर्ष करने वाले आलोचक हैं। उन्होंने अपने युग की नई विधा 'उपन्यास' पर विचार किया है। युग की परिस्थितियों और बदली हुई मनःस्थितियों के बीच उपन्यास विधा का जन्म हुआ है। इस विधा को समझने के लिए, इसके विकास के लिए बालकृष्ण भट्ट के यहाँ तत्परता मिलती है। इस तत्परता के महत्व को परवर्ती हिन्दी आलोचना में महत्व मिला जहाँ उपन्यास के मान स्थापित करने की कोशिश की गई है। बालकृष्ण भट्ट ने अपना निबंध 'उपन्यास' जनवरी 1883 के 'हिन्दी प्रदीप' में लिख था। उन्होंने उपन्यास को प्रौढ़ बुद्धि बालों के लिए 'मन रमाने वाली गुटिका' बताया है, जिसका मुख्य अंग शृंगार रस है। वे मानते हैं कि उपन्यास का काम 'सत्' और 'असत्' के द्वंद्व को समझना है। उपन्यास 'असत्' का उपदेशक भले हो पर इसमें भले और बुरे पात्रों के बीच संघर्ष कराकर अंत में भले पात्र को नायक बनाना चाहिए, इस कर्म में अथवा सारा 'असत्' ढँक जाता है। बालकृष्ण भट्ट अच्छे और बुरे दोनों तरह के पात्रों के संघर्ष से ही एक शिक्षा निकालने की बात करते हैं।

उपन्यास सम्बन्धी-चिंतन की इस भूमिका के बाद परवर्ती हिन्दी आलोचना में इस पर खूब बहस हुई है। नई रचनात्मकता अपने साथ नए आलोचनात्मक विवेक को लाती है। देवकीनंदन खत्री के प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' से इस बात को समझा जा सकता है। इन उपन्यासों के संदर्भ में ही एक महत्वपूर्ण विवाद छिड़ा कि असंभव घटनाओं को आधार बनाकर उपन्यास लिखना कहाँ तक सही है? लालाश्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' के संदर्भ में नाटक की ऐतिहासिकता का प्रश्न उछला था, 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' के संदर्भ संभव-असंभव का मुद्दा सामने आया। यह हिन्दी आलोचना की सही समझ का परिणाम है जहाँ कृति से टकराकर आलोचना के मान निकालने की कोशिश की गई है। बालकृष्ण भट्ट के निबंध 'उपन्यास' में भी 'परिक्षागुरू' से टकराया गया है और उसके थोपे हुए उपदेश को देख यह निष्कर्ष निकलने की कोशिश की गई कि उपन्यास में उपदेश घटनाओं की बुनावट से निकालना चाहिए।

'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' के संदर्भ में संभव-असंभव का प्रश्न नए तेवर के साथ उपस्थित है। इस तेवर में उपन्यास विद्या को समझने-समझाने की कोशिश है। इस विवाद को दिशा देने वाले मेहता लज्जाराम शर्मा (संपादक व्यंकटेश समाचार, बंबई) और 'सुदर्शन' के संपादक माधव प्रसाद मिश्र थे। लज्जाराम शर्मा को इन उपन्यासों की कथावस्तु पर आपत्ति थी। उन्होंने देवकीनंदन खत्री पर 'चार्ज' किया

कि वे असंभव व्यापारों को आधार बनाकर उपन्यास लिख रहे हैं। इस 'असंभव' का सम्बन्ध कहीं न कहीं अवास्तविकता से था और वास्तविकता को उपन्यास को केन्द्र में लाने की कोशिश में लज्जाराम शर्मा ने खत्री जी के उपन्यासों पर ऊँगली रखी। माधव प्रसाद मिश्र ने लज्जाराम शर्मा के तर्क को खारिज किया। वे लिखते हैं—''*यदि असंभव शब्द का यही अर्थ सहयोगी ने समझ लिया है जो आश्चर्य व्यापार किसी एक की समझ में न आवे, वही असंभव है, तब तक चन्द्रकांत की बातें तो दूर रही, विधा विषयक सभी बातें असंभव है.....असंभव शब्द का वही अर्थ है जो शास्त्र में प्रसिद्ध है, तो हमारा निवेदन यह है कि आपका कहना उचित नहीं है क्योंकि चन्द्रकांता में न तो कहीं बंध्या के पुत्र हुआ है और न उसमें शश विषाण का वर्णन ही है। कहीं भी कारण के बिना कार्यों की सृष्टि नहीं दिखाई गई है, फिर उसकी बातों का असंभव कहना किस प्रकार उचित हो सकता है?*''[51] लज्जाराम शर्मा और माधव प्रसाद मिश्र अपनी-अपनी जगह सही हैं। मिश्रजी के यहाँ 'असंभव' का मतलब अप्राकृतिक व्यापारों से है और चूँकि 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' में अप्राकृतिक व्यापार नहीं हुआ है इसलिए वह असंभव नहीं है यानि उसे असंभव व्यापारों का पुतला कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। इन विवादों में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी शामिल हुए, जहाँ से 'उपन्यास' के बारे में समझदारी विकसित होती दिखाई देती है।

'उपन्यास' के बारे में एक समझदारी बनाने के लिए आगे भी काम हुआ। इनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य शुक्ल प्रमुख हैं। हालाँकि शुक्ल जी ने महावीर प्रसाद द्विवेदी से पहले 'उपन्यास' पर चिंतन किया है, पर पहले महावीर प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास-सम्बन्धी विचारों को परखना समीचीन होगा। इनका निबंध 'उपन्यास रहस्य' उपन्यास के बारे में एक धारणा को सामने लाता है। बालकृष्ण भट्ट की तरह महावीर प्रसाद द्विवेदी भी प्राचीन ग्रंथ में उपन्यास के 'अंकुर' को स्वीकार करते है। उन्होंने लिखा—''*साहित्य का एक अंग उपन्यास भी है। यह अंग बड़े महत्व का है। यह संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रंथ-साहित्य में पाया जाता है। पर अंकुर रूप ही में इसके दर्शन होते हैं।*''[52] बालकृष्ण भट्ट भी 'कादम्बरी' को 'अंग्रेजी नोबेल के ठीक-ठीक क्रम का' उपन्यास बताते हैं। पर इन दोनों विद्वानों ने अपनी इस धारणा का स्वयं खंडन किया है और स्वीकार किया है कि उपन्यास विधा आधुनिक युग में पश्चिम से आई है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—''*प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्होंने साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है—उन्हीं ने इसे कला का रूप दिया है।*''[53] इस स्वीकारोक्ति के बावजूद महावीर प्रसाद द्विवेदी इस बात को जरूरी नहीं मानते कि पश्चिम से उपन्यास विधा की जानकारी के बिना उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। वे उपन्यास लिखने के लिए 'मनुष्य स्वभाव के ज्ञान' को जरूरी मानते हैं। मनुष्य स्वभाव के ज्ञान के बिना पश्चिम से सीखने-सिखाने से कुछ नहीं होने वाला, द्विवेदी जी का यह दृष्टिकोण निश्चय ही महत्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा—''*यह बात नहीं कि जिन लोगों ने पश्चिमी पंडितों के इस प्रकार के निरूपणात्मक लेख या ग्रंथ नहीं पढ़े वे कदापि कोई अच्छा*

उपन्यास लिख ही नहीं सकते। जिनको ***मनुष्य स्वभाव का ज्ञान*** *है जो अपने विचार मनमोहक भाषा के द्वारा प्रकट कर सकते हैं जो यह जानते हैं कि समाज का रूख किस तरफ है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है वे पश्चिमी पंडितों के तत्व निरूपण का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।''*[54] महावीर प्रसाद द्विवेदी उपन्यास के लिए मनुष्य स्वभाव के ज्ञान के अलावा समाज की गतिविधियों की जानकारी को जरूरी मानते हैं। इसके बिना यह निश्चय करना कठिन हो जाएगा कि कैसी रचनात्मकता समाज को आगे ले जाने वाली है। द्विवेदी जी के चिंतन के केन्द्र में साहित्य से समाज को लाभ या हानि का प्रश्न प्रमुख रहता है। बालकृष्ण भट्ट ने भी उपन्यास से 'भारी शिक्षा' निकालने की बात की थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी उपन्यास में लौकिक घटनाओं के चित्रण पर बल देते हैं। उन्होंने लिखा—*''उपन्यासों में मनुष्य ही के चरित्रों और मनुष्य ही के कार्यों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है।''*[55]

महावीर प्रसाद द्विवेदी उपन्यास से यह भी माँग करते हैं कि उसमें सामाजिक समस्याओं, राजनीति, शिक्षा, कृषि, विज्ञान आदि विषयों के दृश्य दिखाए जा सकते हैं। इसप्रकार वे उपन्यास के फलक का विस्तार करते हैं। वे लिखते हैं—*''उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्याएँ, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म्म-कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखलाए जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्य और नाटकों की पहुँच जहाँ नहीं वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं।''*[56] द्विवेदी जी के उपन्यास सम्बन्धी चिंतन में मानव स्वभाव की परख और उपन्यास से शिक्षा निकालने की बात-दोनों का जोर है। पर पलड़ा उपन्यास से शिक्षा देने का ही भारी हो जाता है और 'मनुष्य स्वभाव के ज्ञान' वाली बात दब जाती है। वे उपन्यास को जातीय जीवन के 'मुकुर' रूप में देखना चाहते हैं।

ऐसा नहीं है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी उपन्यास से शिक्षा निकालने की ही बात कर चुप हो जाते हैं। साहित्य के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि में नैतिकता, आदर्श, सामाजिक उपयोगिता-अनुपयोगिता के सवाल अपना दबाव बनाए रहते हैं इसलिए उनके आलोचनात्मक चिंतन में इनका स्थान रहता है, पर इन आवरणों के रहते हुए भी वे उपन्यास-सम्बन्धी मूल चिंता को पकड़ने की कोशिश करते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—*''उपन्यासकार को कल्पना के बल पर नई, पर सर्वथा स्वाभाविक सृष्टि की रचना करनी पड़ती है। बड़े परिताप की बात है कि इस इतने कठिन काम को कोड़ियोंजैद और कोड़ियों बक धड़ाके के साथ कर रहे हैं। उनकी सृष्टि में कहीं तो मनुष्य देव या दानव बना दिया जाता है और कहीं कीट-पतंग से भी तुच्छ कर दिया जाता है। न उनकी भाषा का कुछ ठौर-ठिकाना, न उनके पात्रों की भाव-विवृत्ति में संयमशीलता और स्वाभाविकता का कहीं पता और न उनकी कहानी में चावल भर भी सदुपदेश देने का*

सामर्थ्य।''[57] महावीर प्रसाद द्विवेदी के उपन्याास में मनुष्य को मनुष्य रूप में ही चित्रित करने के पक्ष में है। वे उपन्यास में स्वाभाविक-चित्रण पर जोर देते है। पर साथ में वे सदउपदेशात्मकता से उपन्यास को जोड़ना नहीं भूलते।

शुक्ल जी ने अपने उपन्यास-सम्बन्धी चिंतन को नए संदर्भों और प्रश्नों से जोड़ा है। उनका 'उपन्यास' निबंध नागरी प्रचारिणी पत्रिका (15 जुलाई 1910) में प्रकाशित हुआ था। शुक्ल जी ने अपने इस निबंध में उपन्यास और इतिहास के सम्बन्ध, उपन्यास का इतिहास से जुड़ाव-अलगाव और उपन्यास के साधारण जन-जीवन से लगाव और उसके चित्रण आदि मुद्दों पर विचार किया है। वे मानते हैं कि मानव-जीवन से परिचय करने का उत्तम साधन उपन्यास है। उन्होंने लिखा—*''मानव-जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह उन सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं का प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि के पहुँच के बाहर है।''*[58] उपन्यास में स्थूल नहीं उन सूक्ष्म घटनाओं का चित्रण होता है जो मानव-जीवन को बनाते हैं, ऐसा कहकर शुक्ल जी ने उपन्यास को जीवन के सूक्ष्म एवं महीन व्यापारों से जोड़ दिया है। वे उपन्यास और इतिहास में फर्क करते हैं। इतिहास स्थूल घटनाओं से जुड़ा होता है वहाँ मानव-जीवन का सूक्ष्म विवेचन नहीं होता, बल्कि किसी घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक या धार्मिक स्थिति को परखने की कोशिश होती है। उपन्यास मानव-जीवन में व्याप्त अनेक सूक्ष्म घटनाओं का चित्रण कर इनके परिप्रेक्ष्य में मानव-जीवन का परिचय कराता है। इतिहास घटनाओं की जानकारी दे सकता है वह जीवन का पुनःसृजन नहीं कर सकता। शुक्ल जी इतिहास और उपन्यास के बीच अलगाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—''संसार में मनुष्य जीवन सम्बन्धी बहुत-सी ऐसी-ऐसी बातें नित्य होती रहती हैं जिनका इतिहास लेखा नहीं रख सकता पर जो बड़े महत्व की होती हैं। व्यक्ति और सामाजिक जीवन इन्हीं छोटी-छोटी घटनाओं का जोड़ है। पर बड़े से बड़े इतिहास और बड़े से बड़े जीवन चरित्र में भी इन घटनाओं का समावेश नहीं हो सकता।''[59] शुक्लजी की धारणा से स्पष्ट है कि उपन्यास में साधारण का चित्रण होता है जबकि इतिहास में विशिष्ट का लेखा। वे उपन्यास की महत्ता और विशिष्टता को रेखांकित करते हुए ऐतिहासिक उपन्यास पर विचार करते हैं। उन्होंने लिखा—*''ऐतिहासिकता उपन्यासों के बीच जो पात्र और व्यापार ऊपर से लाए जाते हैं और कल्पित कहे जाते हैं यदि वे उस समय की सामाजिक स्थिति से सर्वथा अनुकूल हों तो उन्हें ठीक मान लेना कोई भारी भूल नहीं है। क्योंकि उनके अनुमान करने का साधन तो हमारे पास है पर खंडन करने का एक भी नहीं।''*[60] शुक्ल जी ऐतिहासिक उपन्यासों में 'उस समय की सामाजिक स्थिति' को पकड़ने पर जोर देते हैं। गौरतलब है कि बालकृष्ण भट्ट ने 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक के सम्बन्ध में नाटक में ऐतिहासिकता पर विचार वे क्रम में यह मान्यता रखी थी कि—*''किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी उसके आभ्यंतरित भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात् उस समय मात्र के भाव 'Spirit of times क्या थे? इन सब बातों का ऐतिहासिक रीति पर*

पहले समझ लीजिए।"[61] बालकृष्ण भट्ट का 'उस समय मात्र के भाव' शुक्ल जी के यहाँ 'उस समय की सामाजिक स्थिति' हो गया है। साहित्य में ऐतिहासिकता के संदर्भ में दोनों विद्वानों के मूल भावों में कोई अंतर नहीं है। शुक्ल जी ऐतिहासिक उपन्यास में 'उस समय के सामाजिक चित्र' से मतलब रखने की बात करते हैं, किसी व्यक्ति के बारे में छानबीन करना उसका उद्देश्य नहीं है। उन्होंने लिखा–''*हमें तो उस समय का सामाजिक चित्र देखना है, न कि किसी व्यक्ति के विषय में छानबीन करना।*''[62]

शुक्ल जी के यहाँ उपन्यास और इतिहास के बीच तुलनात्मक चिंतन से ही उपन्यास के बारे में एक धारणा उभरकर सामने आई है। वे इतिहास और उपन्यास के अलगाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–''*इतिहास कभी उन बहुत से सूक्ष्म व्यापारों के लिए जिनसे जीवन का तार बंधा है एक सांकेतिक व्यापार का व्यवहार करके काम चला लेता है पर उपन्यास का संतोष इस प्रकार नहीं हो सकता। इतिहास कहीं यह कहकर छुट्टी पा जाएगा कि अमुक राजा ने बड़ा अत्याचार किया। अब इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत बहुत से व्यापार आ सकते हैं। इससे उपन्यास इन व्यापारों में से किसी-किसी को प्रत्यक्ष करने में लग जाएगा।*''[63] इतिहास में आई घटनाओं में स्थूलता होती है वहाँ संकेत के द्वारा काम चला लिया जाता है। उदाहरण के तौर पर इतिहास जहाँ यह कहकर छुट्टी पा लेगा कि अमुक राजा अत्याचारी था, वहीं उपन्यासकार उसके अत्याचार का चित्र उपस्थित करेगा। उपन्यास में आई घटनाओं में चित्रात्मकता होती है। शुक्ल जी ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए जरूरी बातों का उल्लेख यूँ करते हैं–''*ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए इतिहास के पूरे ज्ञान के साथ ही परम्परागत रहन-सहन, बोलचाल की आलोचना शक्ति आदि भी खूब होनी चाहिए।*''[64] इस तरह वे ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखन के लिए इतिहास के ज्ञान को जरूरी मानते हैं साथ ही 'परम्परागत रहन-सहन' की जानकारी भी जरूरी है। ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास के ज्ञान और परम्परागत रहन-सहन को मिलाकर उस समय की सामाजिक स्थिति का चित्र उपस्थित करने की कोशिश करेगा और इस काम में महत्वपूर्ण भूमिका पात्रों की बातचीत और भाषा की होगी। इसलिए शुक्ल जी ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए 'बोलचाल की आलोचना शक्ति' को केन्द्र में रखते हैं।

शुक्ल जी ने सामाजिक उपन्यास पर भी विचार किया है। उन्होंने सामाजिक उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास से ज्यादा महत्व दिया है। उन्होंने लिखा–''*सामाजिक उपन्यास जिन-जिन चरित्रों को सामने लाते हैं वे या तो ऐसे हैं जो सामाजिक व्यापारों के औसत हैं अथवा जिनका होना मानव प्रकृति की चरम सीमा पर संभव है। कहीं पर ये उपन्यास यह दिखलाते हैं कि समाज कैसा है और कहीं पर यह दिखलाते हैं कि समाज को कैसा होना चाहिए।*''[65] शुक्ल जी का यह वक्तव्य उपन्यास में यथार्थ के चित्रण की माँग करता है साथ में यह एक संभावना को लिए हुए भी है। वे वास्तविकता और संभावना दोनों ही के चित्रण को उपन्यास के लिए जरूरी मानते हैं। यह उपन्यास के लिए ही नहीं, साहित्य के अन्य विधाओं के लिए भी उतना ही सच है। उपन्यास में यथार्थ के चित्रण पर जोर देने के चलते ही वे तिलिस्मी, ऐयारी की विषय-वस्तु

बनाकर रचे गए उपन्यास को सही नहीं मानते, इसे 'कल्पना की क्रीड़ा' बनाकर इसको 'असत्य' घोषित करते हैं। शुक्ल जी ने लिखा–''तोता मैना का किस्सा और तिलिस्म ऐयारी की कहानियाँ निस्संदेह कल्पना की क्रीड़ा है और असत्य है, पर स्वर्णलता, दुर्गेशनंदिनी, बंगविजेता–आदि के ढंग के गार्हस्थ और ऐतिहासिक उपन्यास अनुमानमूलक और सत्य हैं, उच्च श्रेणी के उपन्यासों में वर्णित छोटी-छोटी घटनाओं पर यदि विचार किया जाए तो जान पड़ेगा कि वे यथार्थ में सृष्टि के असंख्य और अपरिमित व्यापारों से छाँटे हुए नमूने हैं।''[66] उपन्यास यथार्थ से जुड़कर ही अपने सही अर्थ को पाता है। यथार्थ से मुँह मोड़कर कोई उपन्यास 'उच्च श्रेणी' का नहीं हो सकता। शुक्ल जी की उपन्यास के बारे में यह समझ इसे नई दिशा देने वाली है। बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास से शिक्षा निकालने की बात को तरजीह दी है। शुक्ल जी भी इस मुद्दे पर विचार करते हैं। उन्होंने लिखा–''*कथा के मिस से मनुष्य जीवन के बीच भले और बुरे कर्मों की स्थिति दिखाकर जितना ये लेखक आँख खोल सकते हैं उतना अहंकार से भरे हुए नीति के कोरे उपदेश देने वाले नहीं। चाणक्य, स्माइल्स आदि नीति छाँटने वाले रूखे लेखक जनसाधारण से अपने को श्रेष्ठ समझ जिस ढब से आदेश चलाते हैं वह मनुष्य की आत्माभिमान वृत्ति को अखर सकता है। ये लोग सदाचार का स्वाभाविक सौंदर्य नहीं दिखला सकते जिनकी ओर मनुष्य मोहित होकर आपसे आप ढल पड़ता है।*''[67] शुक्ल जी कथा से ही उपदेश निकालने की बात करते हैं। थोपा हुआ उपदेश उतना प्रभावकारी नहीं होता है। रचना की घटना-संघटना से निकला हुआ उपदेश पाठक की आँख खोलने में ज्यादा कारगर होता है। बालकृष्ण भट्ट ने भी 'परीक्षागुरु' की आलोचना इसी आधार पर की है। वे भी रचना के घटना संघटन से ही उपदेश निकालने के पक्ष में हैं। शुक्ल जी ने एक महत्वपूर्ण संकेत दिया है कि लेखक को 'जनसाधारण से अपने को श्रेष्ठ' झलकाने की कवायद रचना में नहीं करनी चाहिए। ऐसी रचना जनसाधारण में अपनी पैठ नहीं बना सकती। रचना में स्वाभाविकता की उसको जनसाधारण से जोड़ता है। सदाचार की कोरी शिक्षा जनसाधारण को हृदयग्राहिणी नहीं हो सकती। लेखक का काम है जनसाधारण के 'आत्माभिमान' की रक्षा करते हुए 'सदाचार का स्वाभाविक सौंदर्य दिखाये' इसी में लेखक की सफलता है। शुक्ल जी ने अपने आलोचना कर्म में साधारण जनता का, उसके स्वाभिमान और स्वत्व का हमेशा ख्याल रखा है। उनकी यही दृष्टि उन्हें बालकृष्ण भट्ट से जोड़ देती है। दोनों विद्वानों के यहाँ साधारणता, सहजता और स्वाभाविकता को गजब का महत्व मिला है।

शुक्ल जी का उपन्यास सम्बन्धी चिंतन व्यापक जन-समुदाय और गार्हस्थ जीवन की ओर झुका हुआ है। वे सामान्य को ही विशिष्ट बनाने का उद्यम करते हैं– 'साधारण से ही असाधारण की सत्ता है।' अपनी जीवन दृष्टि में समाये इस तथ्य को शुक्ल जी कभी नहीं भूलते, यह उनकी आलोचना दृष्टि को राह देता है और इसे अनुशासित भी करता है। वे उपन्यास को 'देश की सामान्य जीवन पद्धति' से जोड़कर देखते हैं। शुक्ल जी ने लिखा–''*इधर बहुत से उपन्यासों में देश की सामान्य जीवन पद्धति को छोड़ बिलकुल*

योरपीय सभ्यता के साँचे में ढले हुए छोटे से समुदाय के जीवन का चित्रण बहुत अधिक पाया जाता है। मिस्टर, मिसेज, मिस, ड्राइंगरूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखाई पड़ने लगे हैं। मैं जानता हूँ कि आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष है, पर सामान्य पक्ष नहीं।''[68] शुक्ल जी 'उपन्यास' को विशिष्ट जीवन पद्धति का अजायबघर नहीं बनाना चाहते हैं। व्यापक जनसमुदाय का ख्याल उनके उपन्यास सम्बन्धी चिंतन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वे उपन्यास को मनुष्य जीवन तक ही समेट कर देखने के पक्ष में नहीं है। उनकी दिली इच्छा है कि उपन्यास में मनुष्य के जीवनवृत्त के साथ, कुत्ते-बिल्ली आदि मनुष्य के करीब रहने वाले जानवरों का भी कुछ वृत्त हो। मनुष्य अपने जीवन में इनसे भी जुड़ता है और अपनी संवेदना का विस्तार करता है, अपनी जिन्दगी को इसके साथ जोड़ता है। शुक्ल जी लिखते हैं–*''हम ऐसे आख्यान या उपन्यास की प्रतीक्षा में बहुत दिनों से हैं जिनमें मनुष्यों के वृत्त के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते बिल्ली आदि का भी कुछ वृत्त हो, घटनाओं के साथ चिर परिचित पेड़, झाड़ी आदि का भी कुछ सम्बन्ध दिखाया गया हो।''*[69] उपन्यास पर यह बहुत बड़ा दायित्व है। मनुष्य का जीवन अकेला नहीं होता, उसके साथ बहुत कुछ होता है, अगर उपन्यास में मनुष्य जीवन के साथ इस 'बहुत कुछ' का चित्रण हो तो जाहिर है वह जीवन और सजीव और स्वाभाविक होगा। शुक्ल जी ऐसे ही मजा लेने के लिए उपन्यास में मनुष्य जीवन के साथ कुत्ते, बिल्ली.....पेड़-पौधे आदि के चित्रण की बात नहीं करते हैं बल्कि मानव जीवन का सजीव और स्वाभाविक चित्रण हो सके, इस धारणा के तहत वे ऐसा करते हैं।

अपने उपन्यास सम्बन्धी चिंतन में शुक्ल जी की दृष्टि भाषा के विकास और समाज के कल्याण की ओर भी गई है। उन्होंने लिखा–*''अच्छे उपन्यासों से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।''*[70]

शुक्ल जी के बाद हिन्दी आलोचना में प्रेमचंद ने 'उपन्यास' सम्बन्धी धारणा की और पुष्ट किया है और उसे एक मुकाम तक पहुँचाया है। शुक्ल जी ने माना कि 'मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है', प्रेमचंद के यहाँ 'मानव जीवन' से आगे बढ़कर 'मानव चरित्र' उपन्यास के केन्द्र में आते हैं। उन्होंने लिखा–*''मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।''*[71] प्रेमचंद के यहाँ आकर उपन्यास की समझदारी और सूक्ष्म हो गई है और उसका अभिप्राय और दायित्व और बढ़ गया है। मानव चरित्र के रहस्यों को खोलना मामूली काम नहीं है। मनुष्य के चरित्र के सम्बन्ध में गहरी समझदारी के बिना यह काम संभव नहीं है और यह समझदारी मनुष्य और समाज में अपने-आपको डूबा देने से ही आ सकती है। प्रेमचंद उपन्यास के सामाजिक दायित्व को गहरा और सूक्ष्म करते हैं। हर आदमी के चरित्र में कुछ समानता और कुछ विभिन्नता होती है। उपन्यासकार का यह काम नहीं है कि वह मानव चरित्र के समानता और विभिन्नता का ब्योरेवार चित्रण कर दे, बल्कि उसका काम है कि समानता में विभिन्नता और विभिन्नता

में जो समानता है उनको चित्रित करने का काम करे। प्रेमचंद लिखते हैं–''*सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता-अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।*''[72] मानव चरित्र के समानता में विभिन्नता और विभिन्नता में समानता चित्रित करने का मतलब है मानव चरित्र को गहरे में जाकर समझना और तभी उपन्यास मानव-चरित्र का सच्चा चित्र हो सकता है। उपन्यास में मानव-चरित्र के चित्रण के संदर्भ में ही यथार्थवाद और आदर्शवाद का मुद्दा उठता है। इन चरित्रों को हु-ब-हू रख देना चाहिए या इनमें कुछ 'काट-छाँट' करनी चाहिए? प्रेमचंद ने इस प्रश्न से टकराने का प्रयास किया है। वे यथार्थ के नग्न रूप में चित्रित करने के पक्ष में नहीं हैं। वे ऐसा यथार्थ चाहते हैं जो मानव-चरित्र का चित्र होते हुए भी मानव-चरित्र में आस्था और विश्वास को बनाए रखने में सहयोग करे। उपन्यास का काम मनुष्य के चरित्र का यथार्थ रूप दिखाना है, साथ में उसे 'निराशावादी' दृष्टिकोण से भी बचाना है और मानव-चरित्र में अदम्य आस्था और विश्वास को कायम रखना है। मानव-चरित्र में विश्वास बनाने के लिए उसके चरित्रों को आदर्शवादी बनाना भी ठीक नहीं है। प्रेमचंद उपन्यास में मानव को मानव के रूप में देखना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है–''*यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इन बातों की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें, जो सिद्धांतों की मूर्ति मात्र हों–जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।*''[73] प्रेमचंद यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों की सीमा दिखाते हैं। इन दोनों के सम्मिलन और सहयोग से ही मानव-चरित्र की ठीक से उभारा जा सकता है, प्रेमचंद की यही मान्यता है। इसलिए वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की बात करते हैं।

प्रेमचंद उपन्यास में ऐसे चरित्र के चित्रण की बात नहीं करते जो बिल्कुल साफ-सुथरा बेदाग हो, चरित्र को 'उत्कृष्ट और आदर्श' बनाने का यह तरीका ठीक नहीं है। उपन्यास में हर हाल में यह ख्याल रखना है कि उसमें चित्रित चरित्र मनुष्य का हो, देवता का नहीं। उन्होंने लिखा–''*चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह निर्दोष हो–महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं–चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती, बल्कि यह कमजोरियाँ ही उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे।*''[74] उपन्यास में आधा चरित्र अगर मनुष्य का है तो उसमें अच्छाइयों के साथ कुछ कमियाँ भी होंगी। इन कमियों को नजरअंदाज कर उपन्यास में चित्रित सजीव नहीं कहला सकता। प्रेमचंद का ध्यान उपन्यास में चरित्र की सजीवता, उसकी स्वाभाविकता पर है। प्रेमचंद चरित्रों की अच्छाई-बुराई से ही चरित्र का आदर्श निकालना चाहते हैं। वे यथार्थ से ही आदर्श की अभिव्यक्ति चाहते हैं। इसी बात को

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी रेखांकित किया। वे लिखते हैं–''उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी ही चित्रित करने का प्रयास होता है। इस वास्तविकता के भीतर से ही उपन्यासकार अपना आदर्श ढूँढ़ निकालता है।''[75]

प्रेमचंद उपन्यास में शब्दों के 'गोरखधंधा' को पसंद नहीं करते हैं। उन्होंने उपन्यास में 'घटना वैचित्र्य' को महत्व दिया है, पर यह कथा का हिस्सा बनकर आए, ऊपर से थोपा हुआ न हो। उन्होंने लिखा–''*उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाए; लेकिन शर्त्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्धी रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाए, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की सी हो जाएगी, जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों।*''[76] प्रेमचंद इस बात पर जोर देते हैं कि उपन्यास अंततः एक रचना है इसलिए वह रचना के रूप में आए उसके कोई भाव प्रचारात्मक या थोपा हुआ न हो। वे उपन्यास की सफलता को इस बात में मानते हैं कि उपन्यास के पात्रों के भाव उसके पाठकों के हृदय में भी वैसा ही भाव जगा दे। प्रेमचंद ने लिखा–''*सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्ष्ण है कि वह अपने पाठकों ने हृदय में उन्हीं भावों को जागरित कर दे, जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है–उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाए।*''[77] उपन्यास के पात्रों के भाव और उसके पाठकों के भाव में एकता तभी हो सकती है जब उपन्यास में चरित्रों का सजीव चित्रण किया गया हो। बालकृष्ण भट्ट ने 'सच्ची कविता' निबंध में कविता में असर पैदा होने के लिए लिखा–''*जिसे हम पूरा असर कहेंगे वह केवल इतने से ही होता है कि जो आपके मन में है वह आपके पढ़ने वाले या सुननेवाले के मन में भी हो जाए।*''[78] प्रेमचंद और बालकृष्ण भट्ट के दृष्टिकोण में समानता है, अंतर है तो इस बात का कि प्रेमचंद जिस बात को उपन्यास के संदर्भ में कह रहे हैं बालकृष्ण भट्ट उसी बात को कविता के संदर्भ में। इससे यह जाहिर होता है कि साहित्य की समझदारी में विधागत अंतर होते हुए भी उसमें एक आंतरिक एकता होती है। इसी आंतरिक एकता के सूत्र की प्रेमचंद और बालकृष्ण भट्ट ने अलग-अलग संदर्भों में पकड़ा है।

प्रेमचंद उपन्यास में वार्तालाप को जरूरी मानते हैं। वे विभिन्न चरित्रों के आपसी बातचीत के माध्यम से ही कथा विकसित करने की बात करते हैं। उन्होंने लिखा–''*उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाए, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को–जो किसी चरित्र के मुँह से निकले–उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का पूर्ण रूप से स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है।*''[79] प्रेमचंद इस बात को रेखांकित करते हैं कि उपन्यासकार उपन्यास में अपनी ओर से कम पात्रों के मुँह से ज़्यादा कहे। पात्रों के इस वार्तालाप में इसका ख्याल रखना पड़ेगा कि पात्र के विचार उसके मनोभाव, उसके चरित्र को प्रकाशित करने में सहयोग करें। प्रेमचंद इस बात के प्रति सजग

हैं कि पात्रों के वार्तालाप में उपन्यासकार के विचारों का दबदबा न हो, बल्कि वह वार्तालाप स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म हो।

भारतेन्दु युग में नाटक, आलोचना के केन्द्र में है। इस युग के लगभग सभी आलोचकों ने नाटक के बारे में अपनी धारणा को जाहिर किया है। परवर्ती हिन्दी आलोचना में नाटक का चिंतन-मनन कम हुआ है। हालाँकि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'नाट्यशास्त्र' नामक निबंध लिखा है लेकिन यह निबंध प्राचीन नाट्यशास्त्रों की समीक्षा के रूप में है, इस बात को द्विवेदी जी ने खुद स्वीकार किया है। इस समीक्षा के क्रम में ही उन्होंने कहीं-कहीं अपनी राय जाहिर की है। वे लिखते हैं–''*इस निबंध में विशेष करके प्राचीन नाट्यशास्त्रों की हमने समीक्षा की है। परन्तु प्रसंगवश, कहीं-कहीं हमने कुछ और भी कह दिया है।*''[80] महावीर प्रसाद द्विवेदी भी भारतेन्दु की तरह नाटक के केन्द्र में 'मनुष्य प्रकृति' को रखते हैं। हालाँकि उन्होंने दुःख जाहिर किया है कि नाटक लिखने को लोगों ने खेल समझ रखा है। ''*नाटक लिखने की प्रणाली का जिन्हें अत्यल्प भी ज्ञान नहीं, उन्होंने भी हिन्दी में नाटक लिखने की कृपा की है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि, इस प्रकार ऊटपटाँग लिखकर उसे प्रकाशित करने से हिन्दी ही की नहीं, स्वयं उनकी भी हानि है। नाटक लिखना सबका काम नहीं; उनके लिए उपयुक्त विद्या-बुद्धि के अतिरिक्त लोक व्यवहार और मनुष्य-प्रकृति का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।*''[81] महावीर प्रसाद द्विवेदी नाटक विधा की गंभीरता को रेखांकित करते हैं। वे नाटक विधा से उपदेश देने की बात करते हैं साथ में वे उसकी मनोरंजकता को भी स्वीकार करते हैं। इससे कोई न कोई शिक्षा निकलनी चाहिए। उन्होंने लिखा–''*नाट्य-कला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो, और, चाहे उसे जिसने बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न व्यर्थ है; अभिनेता का प्रयत्न व्यर्थ है; ओर दर्शकों का नेत्र व्यापार भी व्यर्थ है।*''[82]

शुक्ल जी ने नाटक की महत्ता स्वीकार की है। उन्होंने अपने निबंध 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में नाटक के बारे में कहा है–''*काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भाव व्यंजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है। उसमें भाषा अपनी अर्थ क्रिया अधिकतर सीधे ढंग से करती है, केवल बीच में ही भाव या चमत्कार उसे दबाकर अपना काम लेते हैं। बात यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे चलते हैं। पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिए या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जाएगी और सारा नाटकत्व निकल जाएगा।*''[83] शुक्ल जी नाटक और कविता में तुलना के कम में नाटक के बारे में अपनी राय जाहिर करते हैं। उन्होंने नाटक के संवाद पर कविता के माध्यम से विचार किया है और यह तथ्य उद्घाटित किया है कि कविता में जहाँ 'भाव व्यंजना या चमत्कार' के लिए काफी जगह होती है, नाटक के साथ वैसा नहीं है। नाटक का संवाद ही उसकी जान होता है। अगर उसके संवाद वक्रता लिए हुए होंगे तो नाटक में स्वाभाविकता नहीं रह जाएगी और वह 'हवाई' हो जाएगा। शुक्ल जी ने नाटक के विकास के लिए भारतीय

नाट्यशास्त्र को हूबहू स्वीकार करने से मना किया है। आज की परिस्थितियाँ बदल गई हैं ऐसे में उसी पुराने 'जटिल विधान' से काम नहीं चल सकता। उन्होंने लिखा है–''*हिन्दी नाटकों के स्वतंत्र विकास के लिए ठीक मार्ग तो यह दिखाई पड़ता है कि हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो बनाए रहें, पर उनके स्वरूप के प्रचार के लिए और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी कुछ बातों पर मेल सफाई के साथ करते चलें। अपने नाट्यशास्त्र के जटिल विधान को ज्यों का त्यों लेकर हम आजकल चल नहीं सकते, पर उनका बहुत-सा रंग रूप अपने नाटकों में ला सकते हैं। जिससे भारतीय परंपरा के प्रतिनिधि वे बने रह सकते हैं।*''[84] शुक्ल जी नाटक के लिए दूसरे देशों के नाट्यशास्त्र से भी उपयोगी तत्व ग्रहण करने की राय देते हैं। इस तरह वे भारतीय नाट्यशास्त्र से ही नाटक को बाँधकर रखने के पक्ष में नहीं हैं। भारतीय नाट्य शास्त्र में बहुत-सी अस्वाभाविक बातें हैं जिन्हें त्याग देना चाहिए। इस संदर्भ में 'मृत्यु, वध, युद्ध आदि का उदाहरण दिया है जिसको दिखाना प्राचीन नाट्यशास्त्र में वर्जित था।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना के अनेक वाद-विवाद परवर्ती हिन्दी आलोचना में भी सक्रिय रहे। इन विवादों में एक प्रमुख विवाद वेद ईश्वर रचित है या मनुष्य रचित, ने महत्वपूर्ण स्थान पाया है। 'वेद' के मुद्दे पर बालकृष्ण भट्ट ने अपने विश्लेषण एवं आलोचनात्मक क्षमता का परिचय दिया है। उन्होंने वेद की तत्कालीन सामाजिक स्थितियों से जोड़ा है और उसको मनुष्य रचित सिद्ध किया है। बालकृष्ण भट्ट ने मानव सुलभ जिज्ञासा के आधार पर अपने तर्क को और मजबूत किया, पर जरा दूसरे तरीके से–''*ऋग्वेद का कोई ऋषि कुएँ में गिर जाने पर उसी के भीतर पड़े-पड़े स्वर्ग और पृथ्वी आदि की स्तुति कर रहा है। इन्द्र से कह रहा है कि हमारी बुद्धि को बढ़ाएं। कोई बहुत-सी गायें माँग रहा है कोई बहुत से पुत्र।.....कहीं माँस का उल्लेख है, नहीं सुरा का। कहीं द्युत का।....ये सब बातें वेद के ईश्वर प्रणीत न होने की सूचक हैं। ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, कलत्र, दूध, दही माँगने की कोई जरूरत नहीं।*''[85] और आगे वे लिखते हैं–''*ये सब मनुष्यों ही काम हैं उन्होंने वेदों की रचना की है।*''[86] महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बालकृष्ण भट्ट के वेद सम्बन्धी दृष्टिकोण को और पक्का बनाया है। परवर्ती हिन्दी आलोचना बालकृष्ण भट्ट से लगातार संवाद करती है, इसी संवाद में आलोचना के मान विकसित होते गए हैं। बालकृष्ण भट्ट ने भक्ति आंदोलन के उदय के बारे में कहा–''*भक्तिमार्ग का प्रादुर्भाव तब हुआ जब देश में सब ओर मुसलमानों की हुकूमत अच्छी तरह जम गई थी और आर्य जाति अपनी वीरता में च्युत हो चुकी थी।*''[87] बालकृष्ण भट्ट की भक्ति आंदोलन सम्बन्धी इस मान्यता के साथ ही शुक्ल जी की वह विख्यात और विवादित स्थापना याद आना स्वाभाविक है जो उन्होंने भक्ति आंदोलन के उदय के संदर्भ में दी है–''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया।. ....अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के

अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[88] बालकृष्ण भट्ट और शुक्ल जी दोनों की भक्ति आंदोलन के उदय सम्बन्धी मान्यताओं में एकता है। इस मान्यता की अपनी सीमा है वह अलग मुद्दा है। बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी साहित्य के सभी प्रमुख मुद्दों से टकराने की कोशिश की है जो उनके विशाल चिंतन और प्रखर आलोचनात्मक विवेक को जाहिर करता है।

बालकृष्ण भट्ट की आलोचना की संवादधर्मिता को ग्रहण करते हुए परवर्ती हिन्दी आलोचना अपने काम को आगे बढ़ाती है। यहाँ कहीं बालकृष्ण भट्ट की धारणा का विकास हुआ है, उनकी मान्यताओं को नई दिशा दी गई है, उनके द्वारा उठाए गए मुद्दों पर नए सिरे सोचा गया है तो कहीं उनकी धारणा का खंडन किया गया है। कविता की भाषा क्या हो, भारतेन्दु युगीन आलोचना इस प्रश्न से टकराती है और लगभग इस बात को लेकर आम राय है कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा अलग-अलग रहे। इस मुद्दे पर बालकृष्ण भट्ट भी अपने युग के साथ हैं। श्रीधर पाठक की तमाम कोशिशों के बावजूद, खड़ी बोली की कविता को बालकृष्ण भट्ट और अन्य भारतेन्दुयुगीन आलोचकों ने स्वीकार नहीं किया है। बालकृष्ण भट्ट ने खड़ी बोली की कविता को जमकर आलोचना की है और खड़ी बोली की कविता की भाषा होने से असमर्थ घोषित किया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी खड़ी बोली की कविता के पक्ष में खड़े होते हैं और वे इस धारणा का खंडन करते हैं कि–''*कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से निराली ही सोहती है।*''[89] वे कविता की भाषा के सम्बन्ध में बालकृष्ण भट्ट की मानसिकता को उलट देते हैं। उन्होंने लिखा–''*कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान और अविद्वान दोनों काम में लाते हैं।*'[90] महावीर प्रसाद द्विवेदी कविता की भाषा को बोलचाल की भाषा के रूप में देखना चाहते हैं। भारतेन्दुयुगीन ब्रजभाषा का मोह उनको बिल्कुल नहीं है। बालकृष्ण भट्ट ब्रजभाषा के 'शुद्ध पक्षपाती' नहीं हैं, पर खड़ी बोली हिन्दी कविता के विरोधी हैं, इतना स्पष्ट है। हालाँकि उनके इस विरोध के पीछे एक यह धारणा काम कर रही है कि खड़ी बोली की कविता करने में व्यर्थ श्रम करना ठीक नहीं है, क्योंकि इसी श्रम के सहारे हिन्दी गद्य का विकास किया जा सकता है। उन्होंने लिखा–''*खड़ी बोली के रसिक उसे पद्य में लाने के व्यर्थ प्रयास से मुँह मोड़ यदि गद्य लेख के बढ़ाने में प्रयत्न करें तो हिन्दी कविता का कितना उपकार हो।*''[91] बालकृष्ण भट्ट ने 'सच्ची कविता' के लिए जिस स्वाभाविकता की माँग की है क्या वह बदली हुई परिस्थिति में ब्रजभाषा की कविता में आ सकती है या उसे बोलचाल की भाषा से दूर रहने पर उसमें स्वाभाविकता का संचार हो सकता है? बालकृष्ण भट्ट समेत लगभग सभी भारतेन्दु युगीन आलोचक इस ग्रंथि के शिकार हैं कि खड़ी बोली में कविता करने से उसमें वो माधुर्य नहीं आ सकता जो कविता का प्राण है। इस युग के सभी आलोचकों में कविता की भाष और गद्य की भाषा को लेकर द्वंद्व की स्थिति है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के यहाँ यह द्वंद्व नहीं है और वे बोलचाल की भाषा में कविता करने का मुहर

लगा देते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि बोलचाल की भाषा और कविता की भाषा को अलग-अलग रखना 'प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हैं। उन्होंने लिखा—यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियों को चाहिए कि वे क्रम-क्रम से गद्य की भाषा में भी कविता करना आरंभ करें—बोलना एक भाषा में और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है।''[92] वे खड़ी बोली में कविता करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। हालाँकि भारतेन्दुयुगीन आलोचकों की कविता की भाषा के सम्बन्ध में बनी-बनाई ग्रंथि का जबर्दस्त विरोध श्रीधर पाठक ने किया था और इस मायने में वे अपने युग से आगे थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी श्रीधरपाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री के उद्यम को दिशा देते हैं और कविता की भाषा एवं गद्य की भाषा में एकता स्थापित होती है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी गद्य के व्यवस्थित रूप के लिए सजग हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' निबंध लिखा और हिन्दी में व्याकरण की आवश्यकता पर जोर दिया; ताकि ठीक-ठीक हिन्दी लिखी जा सके। उनके इसी निबंध से 'भाषा की अनस्थिरता' का विवाद चला। बालमुकुन्द गुप्त इस विषाद के केन्द्र में थे। उन्होंने दस भागों में 'भाषा की अनस्थिरता' निबंध लिख द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' निबंध की सीमा दिखाई। बालमुकुन्द गुप्त अपने 'भाषा और अनस्थिरता' निबंध में बेहद सुलझी हुई दृष्टि का परिचय दिया है। उनकी विश्लेषण क्षमता और तार्किकता को देखकर अचंभित रह जाना पड़ता है। इस विवाद ने हिन्दी गद्य को नई दिशा प्रदान की।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना के केन्द्र में हिन्दी-उर्दू की एकता-अनेकता का सवाल परवर्ती हिन्दी आलोचना में भी मुखर है। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी-उर्दू की एकता को रेखांकित करते हैं। उन्होंने लिखा—''*उर्दू का साहित्य भी एक प्रकार, हिन्दी ही का साहित्य है।*''[93] बालकृष्ण भट्ट ने भी उर्दू को हिन्दी का 'रूपांतर' माना है। भारतेन्दु युग के आलोचक हिन्दी-उर्दू के विवाद को कम करने के लिए एक लिपि पर जोर देते हैं, यहाँ नागरी लिपि के बारे में आम राय है। महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में भी एक लिपि बनाने की कोशिश है। वे मुसलमानों से अपील करते हुए कहते हैं—''*मुसल्मान नागरी अक्षर के विरोधी हैं, परंतु यदि वे इसको अपना देश समझते हैं और इसमें सजीवता लाकर हिन्दुओं के साथ अपना भी कल्याण करना चाहते हैं तो उनको विरोध छोड़ देना चाहिए।*''[94] बालकृष्ण भट्ट ने भी ऐसी ही अपील की थी—''*मुसलमान भाइयों क्यों व्यर्थ का तअस्सुव गाँठ बाँधे हुए हो अब तो तुम भी भारतवासी हो गए इससे इस देश की भाषा के सुधारने के बढ़ाने में यत्न करो।*''[95]

भारतेन्दु युग में हिन्दी-उर्दू के बीच दूरी बढ़ाने के लिए इस उपक्रम को साधा गया कि हिन्दी में संस्कृत और उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों को खूब भरा जाए। दोनों भाषाओं के बीच दूरी बढ़ाने का यह साहित्यिक

तरीका था। हिन्दी संस्कृत के शब्दों से दबती चली गई और उर्दू, अरबी-फारसी के दबाव में आ गई। बालकृष्ण भट्ट ने इस प्रतिगामी दृष्टि का विरोध किया था। उन्होंने हिन्दी में संस्कृत के शब्दा को भरने और उससे अरबी-फारसी शब्दों को जान बूझकर 'बीन-बीनकर' निकालने का विरोध किया। जो शब्द प्रचलित हैं वे संस्कृत के हों या अरबी-फारसी के, उसे अपनी भाषा में जगह मिलनी चाहिए। परवर्ती हिन्दी आलोचना में भी इस दृष्टिकोण को बल मिला है। शुक्ल जी लिखते हैं—*''मेरी समझ में तो हिन्दी में वे ही अरबी-फारसी शब्द लिए जा सकते हैं जिनको वे लोग भी बोलते हैं जिन्होंने उर्दू कभी नहीं पढ़ी है। जो शब्द लोग मौलवी साहब से सीखकर बोलते हैं उनका दूर होना ही हिन्दी के लिए अच्छा है।''*[96] शुक्ल जी ने पांडित्यपूर्ण उर्दू के शब्द का विरोध किया है। जो उर्दू के शब्द आम लोगों में प्रचलित हैं उनको हिन्दी में स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने अपने इस दृष्टिकोण को और पुष्ट करते हुए लिखा—*''मैं यह नहीं चाहता कि अरबी और फारसी आदि विदेशीय भाषाओं के शब्द जो हमारी बोली में आ गए हैं, जिन्हें बोले बिना हम नहीं रह सकते वे निकाल दिए जायें। किन्तु क्लिष्ट और अप्रचलित विदेशीय शब्दों को व्यर्थ लाकर भाषा के सिर पर ऋण मढ़ना ठीक नहीं।''*[97] शुक्ल जी हिन्दी में प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों को उससे निकालने के पक्ष में नहीं है। वे भाषा में आम-बोलचाल के शब्दों के पक्षधर हैं।

एक तरफ शुक्लजी भाषा के सम्बन्ध में प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय देते हैं, दूसरी ओर कट्टर दृष्टि का। वे उर्दू के बोलचाल के शब्दों के पक्षधर हैं और वे हिन्दी-उर्दू के मामले में हिन्दू मानसिकता के शिकार भी हैं। उन्होंने लिखा—*''कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा ही जाति के धार्मिक और जातीय विचारों की रक्षिणी है; वही उसके पूर्ण गौरव का स्मरण कराती हुई, हीन से हीन दशा में भी उसमें आत्माभिमान का स्रोत बहाती है। किसी जाति को अशक्त करने का सबसे सहज उपाय उसकी भाषा को नष्ट करना है। हमारी नस-नस से स्वदेश और स्वजाति का अभिमान कैसे निकल गया; हमारे हृदय से आर्य भावनाओं का कैसे लोप हो गया? क्या यह भी बतलाना पड़ेगा?''*[98] आगे शुक्ल जी ने उर्दू साहित्य के तथाकथित कुप्रभावों की चर्चा की है कि—*''किस तरह गंगा जमुना के शीतल शांतिदायक तट को छोड़कर इफरात और दजला के रेतीले मैदानों के लिए लालायित हो रहे थे; हाथ में अलिफ लैला की किताब पड़ी रहती थी।''*[99] शुक्ल जी के उर्दू साहित्य के विरोध के पीछे उनकी कट्टर दृष्टि काम कर रही है। वे भाषा को 'जाति के धार्मिक और जातीय विचारों की रक्षिणी' मानते हैं। गौरतलब है कि भाषा और धर्म के मुद्दे को बालकृष्ण भट्ट ने अलग-अलग माना था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भाषा का धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं—*''कुलजाति या धर्म नहीं वरन् जैसे लोगों में कोई रहेगा वैसी ही उसकी भाषा अदल-बदल कर हो जाएगी.....पहले समाज का असर भाषा पर होता है फिर शिक्षा का।''*[100] और शुक्लजी भाषा को धर्म से जोड़कर देखते हैं। भाषा जाति के जातीय विचारों की रक्षिणी है और होगी, पर उसके धार्मिक विचारों की भी रक्षिणी हो, ऐसा कहना हिन्दी-उर्दू के मुद्दे को और उलझाना है।

कुल मिलाकर परवर्ती हिन्दी आलोचना में भाषाई विवाद का कोई ठोस हल नहीं निकला। हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में जो विवाद और दृष्टि भारतेन्दु युग में थी, परवर्ती हिन्दी आलोचना में भी लगभग वही स्थिति रही। हिन्दी-उर्दू की एकता पर बल देना, हिन्दी में संस्कृत के शब्दों और उर्दू में फारसी के शब्दों को जबर्दस्ती लाना, अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को हिन्दी में स्वीकार करना यह दृष्टिकोण भारतेन्दुयुगीन आलोचना में थे और परवर्ती हिन्दी आलोचना में भी यही क्रम व्याप्त है। साथ में हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा के रूप में देखना और उर्दू को मुसलमानों की भाषा के रूप में देखना यह क्रम भी चलता रहा। हिन्दी और उर्दू के बीच दूरी कम होने के बजाय बढ़ती गई और आज भी इसका कोई ठोस हल नहीं निकला है।

बालकृष्ण भट्ट अपने युग की रचनात्मक प्रवृत्ति और विचारधाराओं से टकराते हैं। वे एक आलोचक के दायित्व को निभाते हैं। कहीं-कहीं तो वे अपने युग से 'आगे' हैं। वे भारतेन्दु युग में अकेले आलोचक हैं जिन्होंने जातीयता के मुद्दे पर गहन विचार किया है। बालकृष्ण भट्ट 'जातीयता के गुण' (हिन्दी प्रदीप, जनवरी, मार्च 1897), भारतवर्ष की जातीय भाषा (हिन्दी प्रदीप, फरवरी-1886)'जातीय का अनूठापन' (हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1887) आदि निबंधों में जातीयता को परिभाषित और इसके निर्माण के उपकरण पर विचार करते हैं। परवर्ती हिन्दी आलोचना में जातीयता पर काफी विचार-विमर्श हुआ है। इन विचार-विमर्शों में बालकृष्ण भट्ट के दृष्टिकोण के बीज विद्यमान हैं। बालकृष्ण भट्ट जातीयता को आधुनिक अर्थ में परिभाषित करते हुए लिखते हैं—''*नैशन* अर्थात् किसी जाति या देश के लोगों की समष्टि जिसे कौम भी कहते हैं.....।'[101] बालकृष्ण भट्ट जातीयता को परिभाषित ही नहीं करते उसके निर्माण के उपकरण पर भी विचार करते हैं—''*काम साधने के लिए मनुष्य का मनुष्य के साथ जो परस्पर संयोग एकता उद्यम और साहस है वह व्यावहारिक कारण है।*''[102] बालकृष्ण भट्ट जातीयता के विकास के लिए व्यावहारिक कारणों में मनुष्य के मनुष्य के साथ परस्पर 'संयोग, एकता, उद्यम और साहस' को महत्वपूर्ण मानते हैं। जातीयता का विकास जातीय भाषा के विकास पर आश्रित होता है रामविलास शर्मा ने जातीय भाषा के विकास के संदर्भ में कहा—''जातीय भाषा के विकास का आधार लोकव्यवहार है, छापाखाना नहीं। छापाखाना इसी लोक व्यवहार को आंशिक रूप से प्रतिबिंबित करता है, वह जातीय भाषा का निर्माण नहीं करता।''[103] जातीयता के विकास के लिए बालकृष्ण भट्ट ने इसी 'लोक व्यवहार' को जरूरी माना और कहा है कि 'मनुष्य का मनुष्य के साथ जो परस्पर संयोग एकता उद्यम....है, वह जातीयता के विकास का व्यावहारिक कारण है। रामविलास शर्मा लोक व्यवहार को जातीय भाषा के विकास से जोड़कर देखते हैं और बालकृष्ण भट्ट जातीयता के विकास के लिए लोक व्यवहार को जरूरी मानते हैं। जातीयता का विकास और जातीय भाषा का विकास दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं, दोनों में एकता है। रामविलास शर्मा ने लिखा है—''*जातीयता का मुख्य चिन्ह् है भाषा। जाति के निर्माण में भाषा के गठन और विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध है।*''[104]

बालकृष्ण भट्ट जातीयता के विकास के लिए 'ऐक्य' सहानुभूति, देशभर की एक भाषा, एकमत' को जरूरी मानते हैं। रामविलास शर्मा के यहाँ इस दृष्टिकोण का और विकास और फैलाव होता है। वे लिखते हैं—''*आधुनिक जातियों के निर्माण के लिए सामान्य भाषा, सामान्य प्रदेश, सामान्य आर्थिक जीवन और सामान्य संस्कृति आवश्यक तत्व माने गए हैं।*''[105] रामविलास शर्मा की जातीयता सम्बन्धी अवधारणा में आर्थिक पहलू को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यहाँ बालकृष्ण भट्ट से रामविलास शर्मा की जातीयता की अवधारणा की तुलना करना उद्देश्य नहीं है। रामविलास शर्मा का जातीयता के संदर्भ मे चिंतन विशाल है। यहाँ सिर्फ यह दिखलाने की कोशिश है कि जिस जातीयता की अवधारणा पर रामविलास शर्मा कलम चलाते हैं इसी मुद्दे पर बालकृष्ण भट्ट ने सोचने की कोशिश की है और वे युग की सीमा के रहते हुए भी जातीयता की अवधारणा से टकराते हैं और उसके बीज तत्व को उद्घाटित करते हैं।

संदर्भ स्रोत

1. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881 पृ० 15
2. रामवक्ष (संपा०) महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि संकलन, पृ० 12
3. मैनेजर पांडेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ० 93
4. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881 पृ० 15
5. रामवक्ष (संपा०), महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि संकलन, पृ० 12
6. वही
7. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर, दिसम्बर 1900 पृ० 18
8. मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाज़शास्त्र की भूमिका, पृ० 13-14
9. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर, दिसम्बर 1900, पृ० 18
10. रामवक्ष (संपा०), महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि संकलन,पृ० 12-13
11. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ० 164-65
12. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर , पृ० 19
13. वही, पृ० 3
14. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 1
15. मैनेजर पांडेय, साहित्य इतिहास दृष्टि, पृ० 93
16. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ० 148
17. नेमिचंद्र जैन (संपा०), मुक्तिबोध रचनावली भाग-5, पृ० 31
18. वही, पृ० 32
19. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886 पृ० 12
20. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 59
21. वही, पृ० 95
22. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1 पृ० 93
23. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर, पृ० 62
24. रामचंद्र शुक्ल, चिंतमाणि भाग-1 पृ० 123

25. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886 पृ० 14
26. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 53
27. वही
28. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1 पृ० 145
29. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-2 पृ० 38
30. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1 पृ० 151
31. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886 पृ० 15
32. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 98
33. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-2 पृ० 8
34. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1 पृ० 123
35. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर , पृ० 48
36. प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ० 17-18
37. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ० 166
38. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886 पृ० 14
39. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 56
40. वही, पृ० 58
41. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1 पृ० 111
42. वही, पृ० 120
43. वही
44. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-2 पृ० 6
45. वही, पृ० 5
46. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०), बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 102
47. वही,
48. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 62-63
49. वही, पृ० 70

50. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1 पृ० 94

51. ज्ञान रंजन (संपा०), पहल–64-65, पृ० 217 से उद्धृत

52. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 99

53. वही, पृ० 99-100

54. वही, पृ० 100

55. वही, पृ० 101

56. वही, पृ० 105

57. वही, पृ० 104

58. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-3 पृ० 102

59. वही

60. वही, पृ० 103

61. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886 पृ० 16

62. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-3 पृ० 103

63. वही, पृ० 103-104

64. वही, पृ० 104

65. वही

66. वही, पृ० 102

67. वही, पृ० 104

68. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-2 पृ० 188

69. वही, पृ० 49

70. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-3 पृ० 102

71. प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ० 47

72. वही

73. वही, पृ० 50

74. वही, पृ० 51

75. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर , पृ० 91

76. प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ० 63

77. वही, पृ० 63-64

78. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886 पृ० 11

79. प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ० 67

80. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 43

81. वही

82. वही

83. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-2 पृ० 128

84. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 300

85. रामवक्ष (संपा०), महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि संकलन,पृ० 30-31

86. वही

87. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०), बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 162

88. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 34

89. पद्माकर पांडेय (संपा०), राष्ट्रीय पत्रकार एवं अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, पृ० 127

90. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 77

91. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, 1889 पृ० 18

92. भारत यायावर (संपा०) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली भाग-2, पृ० 47

93. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ० 217 पर उद्धृत

94. वही, पृ० 223 पर उद्धृत

95. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जून, 1882 पृ० 18

96. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-3 पृ० 71

97. वही

98. वही

99. वही

100. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०), बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ० 11

101. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जुलाई, 1880 पृ० 1

102. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मार्च, 1897 पृ० 44

103. रामविलास शर्मा, भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश, पृ० 284

104. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ० 281

105. वही, पृ० 247

उपसंहार

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य के निर्माण का युग है। यहाँ एक साथ कई युगान्तकारी परिवर्तन होते हैं। साहित्य की रीतिवादी परंपरा का अंत होता है और साहित्य और उसकी सामाजिक भूमिका नये अंदाज में रेखांकित होती है। इस युग के साहित्य में शास्त्र और सिद्धांत से महत्वपूर्ण मनुष्य और समाज के प्रति जिम्मेदारी का भाव है और यही भाव भारतेन्दुयुगीन रचना-आलोचना को नवीन भूमि और भूमिका प्रदान करता है।

भारतेन्दु युग में रचना की नवीन समझदारी की विकसित करने में इस युग के आलोचना-कर्म का महत्वपूर्ण योगदान है। भारतेन्दु युग की रचना इस युग की आलोचना से अनुशासित होती है और उसे अनुशासित भी करती है। भारतेदु युग की आलोचकों में बालकृष्ण भट्ट अकेले और इकलौते आलोचक हैं जो आलोचना के माहौल और मानसिकता के निर्माण को लिए संघर्ष करते हैं। यूँ तो भारतेन्दु युग के कमोवेश सभी प्रमुख साहित्यकार अपने आलोचना कर्म को अंजाम देते हैं, पर बालकृष्ण भट्ट का काम इन सबसे अलग है। बालकृष्ण भट्ट नवीन रचनात्मकता के लिए आलोचना-कर्म करते हैं। वे आलोचना के अर्थ का विस्तार करते है। जिस तरह इस युग में भारतेन्दु नाटक रचना के केन्द्र में है, अन्य नाटककार उनके सहयोगी हैं, उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में बालकृष्ण केन्द्र में हैं और अन्य आलोचक उनके सहयोगी। बालकृष्ण भट्ट आलोचना के लिए अपने विशाल चिंतन का उपयोग करते नजर आते हैं।

बालकृष्ण भट्ट आलोचना के अर्थ और अवधारणा दोनों स्तर पर काम करते हैं। उनके विस्तृत आलोचना-कर्म पर चिंतन मनन करने से यह तथ्य जाहिर होता है कि भारतेन्दु युग में वे ही व्यवस्थित और सही अर्थ में आलोचक हैं। बालकृष्ण भट्ट सिद्धांत व्यवहार दोनों स्तरों पर काम करते हैं, पर कहीं भी साहित्य की सामाजिक पक्षधरता उनकी नजरों से ओझल नहीं होती है। साहित्यलोक और मनुष्यलोक में एकता स्थापन बालकृष्ण भट्ट की आलोचना-कर्म का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

बालकृष्ण भट्ट साहित्य को सच्चा और 'खरा' बनाना चाहते हैं। यह संयोग मात्र नहीं है कि उनके दो प्रसिद्ध आलोचनात्मक निबंध के शीर्षक 'सच्ची कविता' और 'सच्ची समालोचना....' है। इन दोनों निबंधों के शीर्षक में 'सच्ची' शब्द का गजब का महत्व है। ऐसा साहित्य के दायित्वबोध के प्रति 'सच्ची' ललक के चलते हुआ है। स्वाभाविकता, सहजता और साधारणता बालकृष्ण भट्ट के आलोचना-कर्म के मूल उत्स हैं। वे इनके सहारे बड़े-बड़े प्रश्न से टकराते हैं। बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि की प्रखरता चिंतन की व्यापकता, लोकोन्मुख साहित्य के प्रति आग्रहशीलता और शैली की रोचकता एवं प्रवाभोत्पादकता उन्हें हिन्दी साहित्य के पहले और महत्वपूर्ण आलोचक

के रूप में स्थापित कर देती हैं। उनका आलोचना-कर्म धारदार है और असरदार भी।

बालकृष्णभट्ट हर साहित्यिक विधाओं के बारे में एक समझदारी बनाने की कोशिश करते हैं। साहित्य से जुड़े हुए शायद ही कोई मुद्दे छूटे हों, जिनपर उन्होंने कलम नहीं चलाया हो। उनका आलोचना-कर्म परम्परा निर्वाह को नहीं, परंपरा के निर्माण को तरजीह देता है। उनके चिंतन का परवर्ती आलोचना में विकास होता है। बालकृष्ण भट्ट की आलोचना की सवांदधर्मिता लगातार बरकरार है, जो उनके आलोचना-कर्म की सजीवता एवं जीवन्तता का प्रमाण है।

•••

ग्रन्थानुक्रमणिका

परिशिष्ट 'क' : आधार ग्रन्थ

परिशिष्ट 'ख' : स्रोत एवं संदर्भ ग्रंथ

परिशिष्ट 'ग' : पत्रिकाएँ

परिशिष्ट 'क' : आधार ग्रंथ

सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०) : बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998

सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०)
नामवर सिंह (प्रधान संपा०) : बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन
नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया,
नई दिल्ली, 1996

बालकृष्ण भट्ट साहित्य सुमन
एल० के० भट्ट, कलकत्ता, 1922

परिशिष्ट 'ख' : स्रोत एवं संदर्भ ग्रन्थ

1. अनुराधा जगधारी : कविता क्या है और आचार्य रामचंद्र शुक्ल
चित्रलेखा प्रकाशन, अलोपी बाग, इलाहाबाद, 1984

2. ओंकारनाथ श्रीवास्तव : हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०
8 फैजबाजार, दिल्ली-6 , 1969

3. इन्द्रनाथ मदान (संपा०) : हिन्दी आलोचना पहचान और परख
लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1974

4. केशनी प्रसाद चौरसिया : आलोचना के प्रतिमान
यूनाईटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, 1966

5. गंगा प्रसाद अग्निहोत्री : समालोचना
चन्द्रप्रभा प्रेस, बनारस, 1896

6. चन्द्रिका प्रसाद शर्मा (संपा०) : प्रतापनाराण मिश्र रचनावली भाग-2
भारतीय प्रकाशन संस्थान, दरियागंज,
नई दिल्ली-2 प्रथम संस्करण-2001

7. झाबरमल शर्मा, : गुप्त निबंधावली भाग-1
बनारसी दास चतुर्वेदी (संपा०) गुप्त स्मारक ग्रन्थ प्रकाशन समिति
कलकत्ता, संवत् 2007

8. दयानंद सरस्वती : सत्यार्थ प्रकाश
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-6, 1984

9. देवीप्रसाद गुप्त : साहित्य : सिद्धांत और समालोचना
आत्माराम एंड संस, दिल्ली-1978

10. धनंजय भट्ट 'सरल' (संपा०) : बालकृष्ण भट्ट हिन्दी की दशा और पत्रकारिता
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1923

11. नगेन्द्र (संपा०) : हिन्दी साहित्य का इतिहास
मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 1997

12. नत्थन सिंह : गद्यकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1959

13. नन्दकिशोर नवल : रचना का पक्ष
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

14. नन्दकिशोर नवल : हिन्दी आलोचना का विकास
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

15. नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न
विद्या मंदिर, बनारस, 1955

16. नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995

17. नामवर सिंह (संपा०) : मलयज की डायरी, भाग-1, 2,3
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

18. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

19. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

20. निर्मला जैन : हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, 1998

21. नेमिचंद्र जैन (संपा०) : मुक्तिबोध रचनावली भाग-5
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998 पेपर बैक संस्करण

22. पी० वासवदत्ता : शास्त्रवादी और स्वच्छंदतावादी साहित्यादर्श और समीक्षा प्रणालियां
स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2001

23. पद्माकर पांडेय : राष्ट्रीय पत्रकार और अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2052 वि०

23. पद्मधर पाठक : श्रीधर पाठक ग्रन्थावली खण्ड -3
राजस्थानी ग्रन्थाकार, जोधपुर, राजस्थान, 1996

24. प्रभाकेश्वर उपाध्याय : प्रेमघन सर्वस्व भाग-2
दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा०) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् 2007 वि०

25. प्रभुनारायण शर्मा 'सहृदय' : हिन्दी आलोचना के भिन्न-भिन्न सिद्धांत और उनके विकास का इतिहास
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, संवत् 2008 वि०

26. प्रेमचंद : प्रेमचंद : कुछ विचार
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001

27. फूलचंद्र पांडेय एम० ए० : हिन्दी आलोचना की रूपरेखा
गयाप्रसाद एंड संस, आगरा, 1959

28. बच्चन सिंह : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, 2000

29. ब्रजरत्न दास : भारतेन्दु हरिश्चद्र
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1962

30. भगवत्स्वरूप मिश्र : हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास,
साहित्य सदन, देहरादून, 1954

31. भगवती चरण वर्मा : साहित्य की मान्यताएं
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1962

32. भगवती प्रसाद शर्मा : नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र
राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1994

33. भागीरथ मिश्र : कला, साहित्य और समीक्षा
भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, 1963

34. भारत यायावर (संपा०) : महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली 2
किताब घर, नई दिल्ली, 1995

35. मक्खन लाल शर्मा : आधुनिक हिन्दी आलोचना : एक अध्ययन
साहित्य प्रकाशन, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली

36. मधुकर भट्ट : बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व
भूमिका प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1991

37. मार्क एंगेल्स : साहित्य तथा कला
प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981

38. मैनेजर पांडेय : साहित्य और इतिहासदृष्टि
वाणी प्रकाशन, 2000 पेपर बैक संस्करण

39. मैनेजर पांडेय : शब्द और कर्म
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

40. मैनेजर पांडेय : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989

41. मंजुल उपाध्याय (सं०) : समकालीन आलोचना की भूमिका
साहित्यागार, जयपुर, 1991

42. यदुनाथ सिंह : आधुनिक हिन्दी समीक्षा प्रकीर्णक से पद्धति तक
आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली, 1980

43. रघुवंश : भारतीय साहित्य के निर्माता श्रीधर पाठक
साहित्य अकादेमी, 1991

44. रमेश कुमार : आधुनिक हिन्दी आलोचना में विवादों का योगदान
भारतीय भाषा केन्द्र जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
1993 (अप्रकाशित)

45. राजकिशोर कक्कड़ : आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास
एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1968

46. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा : हिन्दी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1958

47. राधाकृष्ण दास : भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्त
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन लखनऊ, 1976

48. रामकुमार वर्मा : हिन्दी नाटक और रंगमंच
जगदीश गुप्त, रामजी पांडेय (सं०) हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद

49. रामचन्द्र तिवारी : आलोचक का दायित्व
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1981

50. रामचंद्र तिवारी : हिन्दी आलोचना शिखरों का साक्षात्कार
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000

51. रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2051 वि०

52. रामचंद्र शुक्ल : चिंतामणि भाग-1
हिन्दी साहित्य सरोवर, आगरा, 1992

53. रामचंद्र शुक्ल : चिंतामणि भाग-2
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2041 वि०

54. रामचंद्र शुक्ल : चिंतामणि भाग-3 (संपा० नामवर सिंह)
राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, 1985

55. रामचंद्र शुक्ल : रसमीमांसा
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
संवत् 2048 वि

56. रामदरश मिश्र : हिन्दी आलोचना का इतिहास,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1960

57. रामवक्ष (सं०)
नामवर सिंह (प्रधान सं०) : महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि संकलन
नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, 1997

58. रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा
राजकमल प्रकाशन, 1998

59. रामविलास शर्मा : भाषा और समाज
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979

60. रामविलास शर्मा : भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश
किताबघर, नई दिल्ली, 1999

61. रामविलास शर्मा : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984

62. रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989

63. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' : आलोचनादर्श
इण्डियन प्रेस, लि० प्रयाग, 1938

64. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996

65. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996

66. रामस्वरूप चतुर्वेदी : आचार्य रामचंद्र शुक्ल
आलोचना का अर्थ : अर्थ की आलोचना
लोकभारती प्रकाशन, 2001

67. रामस्वरूप चतुर्वेदी : प्रसाद निराला अज्ञेय
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997

68. रामेश्वरलाल खंडेलवाल : हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ
सुरेश चंद गुप्त (संपा०) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001

69. रेनेवेलेक : आलोचना की धारणाएँ
हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़, 1978

70. लक्ष्मीनारायण सुधांशु (प्रधान सं०) : हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-13
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2022 वि०

71. लक्ष्मीशंकर व्यास (सं०) : बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का संग्रह
उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, 1983

72. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य
हिन्दी परिषद प्रकाशन
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1971

73. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी आलोचना
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

74. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
N.C.E.R.T, 1996

75. वीरभारत तलवार : रस्साकशी
19 वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत
सारांश प्रकाशन, दिल्ली, हैदराबाद, 2002

76. वीरभारत तलवार : हिन्दू नवजागरण की विचारधारा
सत्यार्थ प्रकाश : समालोचना का एक प्रयास
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास शिमला, 2001

77. वेंकट शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास
आत्माराम एंड सन्स, 1962

78. शांतिप्रकाश वर्मा : प्रतापराय मिश्र की हिन्दी गद्य को देन
विश्व साहित्य भवन, दिल्ली, 1970

79. शांति प्रकाश वर्मा : द्वितीय भारतेन्दु प्रताप नारायण मिश्र,
सत्साहित्य भंडार, अशोक विहार, दिल्ली, 1991

80. शिवदान सिंह चौहान : आलोचना के मान
रंजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, 1958

81. शिवदान सिंह चौहान : साहित्यनुशीलन
आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली 1955

82. श्यामसुंदर दास : साहित्यलोचन
इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, संवत 1995

83. स० म० परलीकर : भारतीय आलोचना परंपरा और सिद्धांत
विभूति प्रकाशन, दिल्ली, 1986

84. स्वदेश भारती (संपा०) : साम्प्रतिक हिन्दी साहित्य रचना और आलोचना खंड 1
रूपाम्बरा प्रकाशन, कलकत्ता, 1981

85. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०) : रचना और आलोचना
इलाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद, 1997

86. सीताराम जायसवाल : आधुनिक आलोचना और साहित्य
सरस्वती मंदिर, 1951

87. सुरेश सिन्हा : हिन्दी आलोचना का विकास
रामा प्रकाशन, लखनऊ, 1964

88. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992

89. हजारी प्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1990

90 हजारी प्रसाद द्विवेदी : साहित्य सहचर
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991

91. हरिश्चन्द्र जायसवाल : आलोचना इतिहास एवं सिद्धांत
वीणा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977

92. हरिशंकर शर्मा, श्री महेन्द्र, : बाबू गुलाब राय स्मृति ग्रंथ
पं०वियोग हरि, डॉ० नगेन्द्र (सं०) शिवलाल अग्रवाल एंड सन्स कं० गया प्रसाद एण्ड सन्स,
आगरा, 1970

93. हेनरी पेयरे : समालोचना की असफलताएं
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1980

94. हेमंत शर्मा : भारतेन्दु समग्र
प्रचारक ग्रन्थावली परियोजना (1)
हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1989

परिशिष्ट 'ग' : पत्रिकाएँ

1. हिन्दी प्रदीप

2. ज्ञानरंजन (संपा०), पहल-64-65
मार्क्सवादी आलोचना विशेष